

# चौमासा

वर्ष-19 अंक-58  
मार्च-जून, 2002

सम्पादन सलाहकार  
निरंजन महावर

सम्पादक  
कपिल तिवारी

सहायक सम्पादक  
अशोक मिश्र



मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद्  
भोपाल का प्रकाशन

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

सम्पर्क :

मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद्  
मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन, आधार तल,  
बाणगंगा, भोपाल-462003  
दूरभाष : 551878

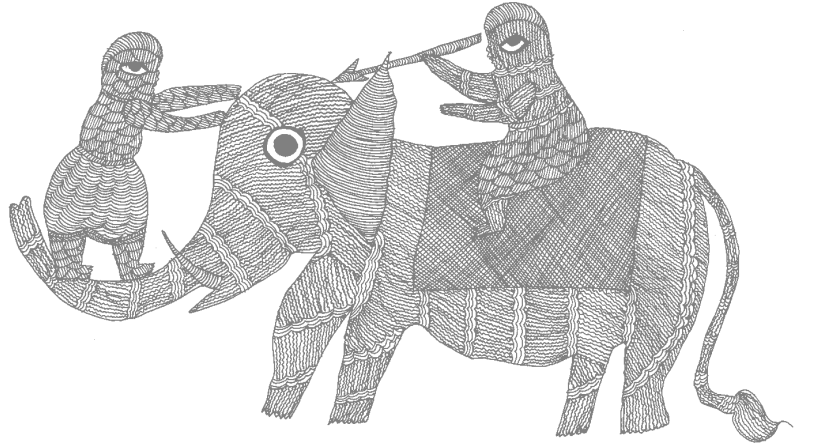
मूल्य :

एक प्रति बीस रूपये  
वार्षिक पचास रूपये  
आजीवन सदस्यता पन्द्रह सौ रूपये  
चौमासा का वार्षिक शुल्क अनुषंग पुस्तिका के साथ सौ रूपये

प्रचार/प्रसार :

श्रीमती उर्मिला पारखे/प्रवीण गावण्डे

आवरण तथा भीतरी रेखांकन  
गोण्ड जनजातीय पारम्परिक चित्रकार  
श्रीमती दुर्गा बाई व्याम, भोपाल



शब्दांकन -

मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद्

मुद्रण :

प्रियंका ऑफसेट, भोपाल

चौमासा में प्रकाशित समस्त सामग्री लेखकों के अपने कार्य और विचार हैं। आवश्यक नहीं कि परिषद् उससे सहमत हो।

पत्रिका और प्रकाशन से सम्बन्धित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्यक्षेत्र भोपाल रहेगा।

डॉ. कपिल तिवारी, सचिव, मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद् सम्पादक, मुद्रक, प्रकाशक द्वारा मे. प्रियंका ऑफसेट २५-ए, प्रेस काम्प्लेक्स, भोपाल से मुद्रित करके मध्यप्रदेश आदिवासी लोक कला परिषद्, मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन, आधार तल, बाणगंगा, भोपाल से प्रकाशित।

सम्पादक - डॉ. कपिल तिवारी

## इस अंक में-

- दार्शनिक निरूपणों में वाचिक परम्परा का अन्तःसम्बन्ध / डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी / 5
- लोक संस्कृति और वाचिक परम्परा / कर्मेन्दु शिशिर / 9
- लोक की खोज में / डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त / 11
- हज़रत अब्दुल्लाशाह मंज़न / राम सेवक गर्ग / 16
- कुमाउनी लोकगीत: गौरा महेश्वर / डॉ. देवसिंह पोखरिया / 24
- संताल गीतों में शिव वैद्यनाथ / डॉ. मोहनानन्द मिश्र / 31
- आदिवासी कथाओं में रामकथा / डॉ. अर्चना गौर / 33
- गौरा पूजा एवं दीपावली पर्व / निरंजन महावर / 38
- अवधी कथावर्तें / बी.एल.द्विवेदी / 45
- मालवांचल की प्रथाएँ / डॉ. शशिकला निगम, अरूण निगम / 51
- मालवी लोक गीत / डॉ. प्रहलाद चंद जोशी / 56
- व्रतों की कहानियाँ / श्रीमती अरूणा चौबे / 62
- बुन्देलखण्ड में फागों के विविध रूप / अयोध्या प्रसाद गुप्त 'कुमुद' / 75
- छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में विविध रंग / डॉ. पीसी लाल यादव / 79
- छत्तीसगढ़ के वैवाहिक लोकगीत / श्रीमती शांति यदु / 85
- हरबोला / डॉ. धर्मेन्द्र पारे / 89
- दर्शनीय महेश्वर / बाबूलाल सेन / 104
- नर्मदा के सौन्दर्य की धार: मन्धार / डॉ. श्रीराम परिहार / 113
- स्मृति- मालव लोकनाट्य : माच के शिखर पुरूष श्री सिद्धेश्वर सेन / डॉ. शिव कुमार 'मधुर' / 116
- अनुवाद- मिथ्स ऑफ मिडिल इंडिया / डॉ. वेरियर एल्विन / अनु. सुरेश मिश्र / 120
- अनुवाद- गरीब किसान और कौवों का राजा / प्रकाश परिहार / 130
- पुस्तक चर्चा / चन्द्रशेखर दुबे, डॉ. शान्ति जैन, रामनारायण अग्रवाल, प्रो. देवसिंह पोखरिया / 135
- आयोजन- राष्ट्रीय रामलीला मेला / डॉ. छेदीलाल कांस्यकार / 147



## दार्शनिक निरूपणों में वाचिक परम्परा का अन्तःसम्बन्ध

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी

‘वाचिक परम्परा’ जैसी संज्ञा ‘मुद्रित परम्परा’ के सन्दर्भ में रेखांकित हुई है- अन्यथा इस प्रकार बल देने की आवश्यकता नहीं थी। मुद्रण के आविष्कार के बाद भी एक लम्बे अरसे तक वाचिक परम्परा की उपलब्धियों को ही मुद्रित किया जाता रहा। ठीक वैसे ही जैसे उसे पठ्य-बनाने के लिए ‘लिपिबद्ध’ किया जाता था। पर परिवेश-विशेष में ‘मुद्रित परम्परा’ ने अपनी कुछ ऐसी विशेषताएँ निर्मित कर लीं जिनके कारण इसने ‘वाचिक परम्परा’ से अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व या पहचान बना ली। वाचिक परम्परा में ‘बाँचने’ पर बल था-जहाँ उसके समक्ष प्रत्यक्ष श्रोता होता था और वह भी बाँचने वाले का प्रतिरूप-संवेदनशील रूप। ‘मुद्रित परम्परा’ ने सम्प्रेष्य सामग्री को ‘श्रव्य’ से ‘पठ्य’ कर दिया। पहले की प्रक्रिया अनिवार्यतः सामाजिक थी-दूसरे की मानसिक हो गई-मुद्रित सामग्री को मन ही मन पढ़ा जाने लगा। यहाँ भी पाठक का उद्भावित श्रोता है-पर एक तो वह कल्पित होने से आभ्यन्तर है और दूसरे उसका अ-प्रतिरूप-उससे इतर। इसीलिए पहले के यहाँ संवाद की समस्या नहीं उठती जबकि दूसरे के यहाँ अवश्य उठती है। मुद्रित परम्परा का युग भी अपनी प्रकृति में अन्यथा होता जा रहा है। पहली अवस्था से दूसरी अवस्था में संक्रमण ज्ञान से एक नए प्रकार के संबंधी की अपेक्षा रखता है- फलतः दृष्टि और संवेदना में अन्तर आ जाता है। यह प्रभाव बड़ा दूरगामी है। ज्ञान-सम्बन्ध के साथ वाक्य रचना, छन्द, चिन्तन पद्धतियाँ सभी बदल जाती हैं। अभिप्राय यह कि धीरे-धीरे मुद्रित परम्परा ने जब अपनी विशिष्ट पहचान बना ली-तब सुदूर अतीत से चली आ रही समृद्ध वाचिक परम्परा अपनी उपलब्धियों और विशिष्टताओं में स्पष्ट रेखांकित की जाने लगी। वाचिक परम्परा में वाचिक श्रोता आवश्यक है जबकि मुद्रित परम्परा में आत्म-श्रोता। पहली परम्परा में सम्प्रेषण स्वयं सहकर्म है। मुद्रित कविता के साथ पहले सहयोग की स्थिति उत्पन्न करनी पड़ती है जिससे कि सम्प्रेषण हो सके। इस तरह दोनों परम्पराओं की अपनी विशिष्ट पहचान है। दोनों की अपनी अहमियत का प्रभाव रचना और चिन्तन पर पड़ता है-उनकी प्रक्रिया पर भी पड़ता है। वाचिक परम्परा का प्रयास स्मृति में संजोए जाने के लिए होता है-क्योंकि उसके प्रयास में रचयिता या चिन्तक और उसके वाचिक श्रोता या सामाजिक की साझा पूँजी है और सम्प्रेषण के लिए बनी बनाई प्रणाली प्रस्तुत करती है-सेतु प्रस्तुत करती है। इस परम्परा

में धीरे-धीरे पद्धतिबद्धता आ जाती है।

बीसवीं शती के चौथे दशक के बाद 'वाचिक परम्परा' का मुहावरा कविता के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ और कविता को ही केन्द्र में रखकर उसकी प्रत्यभिज्ञापक रेखाएँ मौद्रणिक परम्परा के बरक्स उभारी गई।

वाचिक परम्परा Oral tradition नहीं है-उससे इसकी अस्मिता राष्ट्रीय वैशिष्ट्य लिए हुए है। Tradition में ज्ञान का हस्तान्तरण पं. विद्यानिवास मिश्र के शब्दों में कहें तो ज्यों का त्यों होता है परन्तु 'परम्परा' का अर्थ है-उत्तरवर्ती (पर) से उत्तरवर्ती (पर) आगे के आगे या श्रेष्ठ से श्रेष्ठ। इसलिए परम्परा में पूर्ववर्ती का समोवश तो है ही, पर उससे आगे जाने की भी बात है-पूर्ववर्ती का सातत्य है आधिपत्य नहीं। उसमें पूर्ववर्ती की निरन्तर परीक्षा भी सम्मिलित है-इसलिए हमारे यहाँ मात्र 'पुराना' होने से कोई बात अच्छी नहीं मानी जाती और न ही नया होने से निन्दनीय या अग्राह्य-विचार-विनिमयपूर्वक, सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक सन्तजन उसका वजन करते हैं तब उसे ग्राह्य या त्याज्य घोषित करते हैं।

वाचिक परम्परा में सामाजिक श्रोता की अनिवार्य स्थिति थी। संगोष्ठियों का बड़ा महत्व था-उसमें 'वाद' माध्यम बनता था और उसके माध्यम से रचना या चिन्तन परिणत रूप लेता था। इसीलिए ऊपर कहा गया है कि परम्परा में चिन्तन न केवल सुरक्षित रहता था प्रत्युत पल्लवित और संशोधित होता रहता था। यही कारण है कि इस परम्परा में 'यथोत्तर' मुनीनां प्रामाण्यम् की मान्यता प्रतिष्ठित है-पर से पर आने वाला कर्मण्य प्रातिभ मुनि का पक्ष पहले से उत्तम और प्रामाणिक माना जाता था-पाणिनि से कात्यायन और कात्यायन से पतञ्जलि को अपने क्षेत्र में प्रामाणिक माना गया। इस परम्परा में गतिशील चिन्तन को स्थिर और साथ ही गतिशील बनाने के संकल्प से ही प्रायः इसके साझेदारों ने इसे छन्दोबद्ध कर लिया ताकि वह कण्ठस्थ हो जाय और स्मृति में सुरक्षित रह सके। अपनी इसी स्मृति शक्ति के कारण इस परम्परा के मूर्धन्य मनीषी जंगम पुस्तकालय माने जाते थे। इसीलिए यहाँ प्रसिद्धि रही है 'पुस्तकस्थ विद्या और वसुन्धरा में गड़ा धन समय पर कारगर नहीं होता।' इसी परम्परा में प्रसिद्धि है कि सरस्वती उनकी जिह्वा पर नाचती है-उर और कण्ठ में निवास करती है।

कोई भी परम्परा कर्मठ प्रातिभ विभूतियों से समृद्ध होती है और पद्धतिबद्ध सुविधा परस्तों से बर्बाद भी होती है। वाचिक परम्परा कर्मठ प्रातिभ विभूतियों से समृद्ध रही है। इस परम्परा में चिन्तन का लक्ष्य 'तत्त्वबोध' था और प्रक्रिया 'विचार-विमर्श' की थी। वाङ्मय चाहे काव्यात्मक हो या शास्त्रात्मक-परिवेश दोनों का समान था अर्थात्-दोनों अपनी परिणति और प्रतिष्ठा में समाज की साझेदारी की

अपेक्षा करते थे। कालिदास जैसी प्रतिभा 'पूर्वसूरियों' की ऋणी थी-सूत और व्यास एक समृद्ध परम्परा की प्रतिमूर्ति थे। वाल्मीकि ने रामायण की रचना समाज में फैलाने के लिए, गाकर सुनाने के लिए की थी।

चिन्तन के क्षेत्र में यहाँ के दार्शनिकों में 'विचार विनिमय' की ही प्रक्रिया प्रचलित थी-जिसके लिए वक्ता-श्रोता या वादी-प्रतिवादी अनिवार्य थे। निगम तो श्रुति कहा ही जाता है-'आगम' और 'पुराण' भी वक्ता और प्रत्यक्ष श्रोता के कूलों में ही प्रवाहित हैं। इसका प्रभाव रामचरितमानस जैसे परिनिष्ठित ग्रन्थों पर स्पष्ट है जहाँ विभिन्न वक्ता श्रोताओं के चार घाट ही हैं। अभी चिन्तन या दर्शन के क्षेत्र के विचार-विनिमय की बात की ही जा रही थी-न्याय वैशेषिक दर्शन में उसके तीन रूप प्रख्यात हैं-वादि, जल्प और वितण्डा। 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः' की पारम्परिक उक्ति में यही तो कहा जा रहा है कि अभीष्ट तत्त्वबोध 'वाद' से ही सम्भव है-जहाँ जिज्ञासु श्रोता और प्रबुद्ध वक्ता का होना अनिवार्य था-उपनिषदों में ऐसी संगोष्ठियाँ भरी पड़ी हैं। विचार-विनिमय की और भी प्रणालियाँ प्रचलित थीं-जैसे, वितण्डा और जल्प। परन्तु वितण्डा में भाग लेने वाले वादी-प्रतिवादी में वैतण्डिक का अपना कोई पक्ष नहीं होता था पर उसका उद्देश्य सामने वाला का कोई पक्ष न बनने देना अपना लक्ष्य मानता था। 'खण्डन खण्डरवादय' कार श्री हर्ष ऐसे ही वैतण्डिक थे-जो अद्वैतवादी होने के कारण किसी भी वस्तु को निर्वचनीय होने ही नहीं देते थे और कारण था माया की अनिर्वचनीयता सत् और असत् जैसी बौद्धिक कोटियों से विनिर्मुक्ति। बौद्ध तो और आगे बढ़कर 'शून्य' की पक्षधरता में उसे 'चतुष्कोटि विनिर्मुक्त' बताते थे-न सत् न असत्, न सदसत् और न ही अनुभयात्मक। वह किसी भी अन्तिम कोटि का पक्षधर नहीं है-मध्यमार्ग का समर्थक है। 'जल्प' ऐसा विचार-विनिमय है जहाँ तत्त्वबोध नहीं, विजय-पराजय लक्ष्य हो जाता है। इन सबसे कहना यह है कि वाचिक परम्परा का दार्शनिक चिन्तन जिस विचार-विनिमय के माध्यम से चलता है-उसमें वादी-प्रतिवादी जैसे वक्ता-श्रोता की उपस्थिति अनिवार्य है-न्यायदर्शन में जिन सोलह पदार्थों का विवेचन है उनका उपयोग वादी प्रतिवादी के द्वारा सिद्धांत निर्णय के लिए किया जाता है।

इतना तो स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में मुद्रण-कला नहीं थी-अतः पत्र-पत्रिकाओं की जगह काव्य गोष्ठियाँ या विदग्ध गोष्ठियाँ लिया करती थीं। काव्यकार की परीक्षा उज्जयिनी में और शास्त्रकार की परीक्षा पाटलिपुत्र में होती थी। इन विदग्ध गोष्ठियों में सम्मिलित होने की मूलभूत अर्हता अपेक्षित हुआ करती थी। जिस प्रकार दृश्य-काव्य की सार्थकता 'प्रयोग' में है उसी प्रकार श्रव्य-काव्य की सार्थकता रसिकों के बीच पाठ में मानी गई है। 'काव्यमीमांसा' कार कहता है कि पाठ के चार गुण हैं-गंभीरता, श्रव्यता, उतार-चढ़ाव का

निर्वाह और संयुक्त वर्ण लावण्य। काव्यमीमांसाकार ने ऐसी विदग्ध गोष्ठियों की चर्चा की है और कामशास्त्र, सुश्रुत तथा चरक में भी ऐसी विदग्ध गोष्ठियों का उल्लेख है। इन गोष्ठियों का 'नागरकों' के बीच अनिवार्य स्थान था। इन गोष्ठियों में सम्मिलित होने वालों को 'नागरक' कहा जाता था। कामसूत्र की वात्स्यायनकृत टीका में कहा गया है— 'नागरको विदग्ध जनः'। उन्होंने इस शिष्ट गृहस्थ की दिनचर्या का बड़ा ही व्यवस्थित उपस्थापन किया है। राजशेखर ने भी ऐसी वक्ता-श्रोता-संबलित संगोष्ठियों का साभिनवेश विवरण दिया है और बाण ने भी शूद्रक की राजसभा की संगोष्ठी का ऐसा ही विवरण दिया है। भामह, दण्डी, रूद्रट और वामन ने भी इस परम्परा का उल्लेख किया। गोस्वामी तुलसीदास भी मानते हैं कि संगोष्ठी का श्रोता-वक्ता-दोनों ही ज्ञान-निधि होते थे। गोष्ठियों में नागरक के अतिरिक्त भावक की भी एक कोटि होती थी। कुछ लोगों की यह भी धारणा थी—

*भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधर्मा दशाम् ।*

अर्थात् जिस कवि में आभ्यन्तर भावक प्रखर होता है उसकी दुर्गति नहीं होती। इस परम्परा में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट चिन्तक और रचनाकार को अपनी कृति की प्रतिष्ठा के लिए सर्वदा समाज के प्रबुद्ध वर्ग की निकष रूप में अपेक्षा रहती थी। कालिदास अपने उत्तम से उत्तम प्रयोक्ता-शिक्षित प्रयोक्ता-पर तभी संतुष्ट होते थे जब विद्वान को वह परितुष्ट नहीं कर लेता था। भवभूति को तो इतना सन्तोष था कि इस विपुला पृथिवी और निरवधि काल में कभी तो कोई संवादी भावक मिलेगा। इस सबका निष्कर्ष यही है कि इस वाचिक परम्परा में श्रोता-प्रत्यक्ष श्रोता-की भागीदारी अनिवार्य थी।

दर्शनशास्त्र विश्व की समस्या को समझने का एक मानवीय प्रयास है इसीलिए दर्शनों से तात्पर्य आलोचनात्मक व्याख्याओं (भाष्यों), तार्किक सर्वेक्षणों और दार्शनिक पद्धतियों से होता है। वाचिक परम्परा और दार्शनिक निरूपणों का अन्तः सम्बन्ध दिखाने के लिए थोड़ा दार्शनिक निरूपणों की बात भी कर ली जाय। सुदूर अतीत में देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि वैदिक धर्म के विश्वासों के ऊपर उपनिषदों के विचारकों ने अपनी गोष्ठियों में विशेष ध्यान दिया। उपनिषदों ने उन विश्वासों की आलोचना भी की और कहा कि इन तमाम बातों से उन्हें क्या लेना-देना जिनसे अमरता न मिले। उपनिषदों ने उच्च कोटि के ईश्वर-ज्ञान को पूर्वजों के विश्वासों के साथ मिलने के लिए बहुत प्रयत्न किए-परन्तु उपनिषदों के उच्च कोटि के आदर्शवाद ने जन-साधारण में प्रचलित आन्दोलन का रूप धारण नहीं किया। मिथ्या विश्वासों से भरपूर निम्न श्रेणी का धर्म ही जन-साधारण में फैला रहा-इस व्यवधान से असन्तोष का उपजना स्वाभाविक था। औपनिषद् ऋषि समस्याओं का समाधान तर्क की जगह अन्तर्दृष्टि से देते थे-जो बोध के धरातल से ऊपर ही रह जाता था। ऐसे में पुरोहितशाही ने भी

कम आग नहीं उगली। इस स्थिति ने विचारशील थोड़े-से व्यक्तियों को थोड़े समय तक और जन-साधारण को अधिक समय तक सन्तुष्ट रखने में अपनी कमजोरी व्यक्त कर दी। फलतः विश्लेषण का युग प्रारम्भ हुआ। समय प्रतीक्षा कर रहा था कि गम्भीरतर और आध्यात्मिक धर्म का प्रचार साधारण जन-समाज में होना ही चाहिए। फलतः हो सकता है कि उपनिषदों के पश्चात् काल में जो धर्म प्रचलित था उसके विरोध में नितान्त और अनुदार प्रयत्न देश के भिन्न-भिन्न भागों में किए गए हों-बौद्ध एवं जैन मत ने पूर्व की दिशा में तथा भगवद्गीता ने पश्चिम की दिशा में जो प्राचीन वैदिक धर्म का गढ़ था-प्रचार किया। वैदिक काल के बाद के महाकाव्य-काल में लोगों की बौद्धिक रूचि के प्रति प्रबल जागरूकता लक्षित होती है। अन्तर्दृष्टि का स्थान अब समीक्षा, सत्यान्वेषणा और धार्मिक विश्वासों का स्थान दर्शनशास्त्र लेने लगे। इस प्रकार महाकाव्य-काल भारतीय विचारधारा का एक महत्वपूर्ण काल है। इस युग के तीन भिन्न-भिन्न विचारों के स्तर एक दूसरे से पश्चाद्वर्ती हैं। ये दार्शनिक निरूपण इस प्रकार हैं— (1) विद्रोही पद्धतियाँ, चार्वाकमत (भौतिकवाद) बौद्ध तथा जैनमत (छह सौ ई.पू.) (2) आस्तिकवाद सम्बन्धी पुनर्निर्माण जो भगवद्गीता और अर्वाचीन उपनिषदों में प्राप्त हैं (500 ई.पू.) और (3) षड्दर्शन शास्त्रों का कल्पनापरक विश्वास जिसने 200 ई. तक एक निश्चित रूप धारण किया। भारतीय दार्शनिक निरूपण में ये ही स्तर-भेद से प्राप्त विचार परिगणित हैं। देखना यह है कि ये निरूपण मौखिक परम्परा में किस प्रकार फलते-फूलते रहे।

भौतिकवादी निरूपण अधिकांश मौखिक परम्परा में ही रह गए-इन्हें उस तरह लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता-जैसे औरों को किया गया-इसका अस्तित्व प्रागबुद्ध ही नहीं है ऋग्वेद की ऋचाओं तक में उपलब्ध है। इधर-उधर से प्राप्त संकेतों में प्रतीत होता है कि इसके अनुयायी बराबर रहे हैं। बौद्ध ग्रन्थों, महाभारत के शान्तिपर्व, विष्णुपुराण, मनुस्मृति, क्रमप्राप्त वृहस्पति सूत्र तथा अन्यान्य सम्प्रदायों के दार्शनिक ग्रन्थों (सर्वदर्शन संग्रह-प्रथम अध्याय) में भी इसके संकेत मिलते हैं-इससे स्पष्ट है कि इस निरूपण का अस्तित्व हमारी वाचिक परम्परा में बराबर बना रहा है। नैषधीय चरित के सत्रहवें सर्ग में इसे पूर्वपक्ष में प्रस्तुत किया गया है।

जैन धर्म दर्शन के मूल आगम 'अंग' और 'पूर्व' लुप्त हो चुके थे। दिगम्बर तो अभी भी यही मानते हैं-पर श्वेताम्बरों की धारणा भिन्न है। लोगों के मन में पूर्ववत् धार्मिक विश्वास सुरक्षित था किन्तु धर्मशास्त्र का ज्ञान धीरे-धीरे क्षीण हो रहा था-इसलिए ईसा पूर्व चौथी शती में धार्मिक नियम बनाने के लिए पाटलिपुत्र में एक परिषद् का आयोजन हुआ था-पर उसको अन्तिम रूप 454 ई. में देवर्द्धि के प्रामुख्य में वलभी वाली परिषद् में दिया गया था। वाचिक परम्परा में सुरक्षित इन विचारों को 84 ग्रंथों में लिपिबद्ध कर लिया गया- ये सब

अर्धमागधी भाषा में लिखे गए हैं। श्वेताम्बर इन्हें प्रामाणिक मानते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में सन् 57 ई. में उस पवित्र जनश्रुति को लिपिबद्ध किया गया। अब उसके निष्णात विद्वानों का दौर्लभ्य हो रहा था- फलतः तब तक अनुश्रुति और स्मृति में जो कुछ बच रहा था- वही उनकी विरासत थी। महावीर और अन्यान्य केवलियों ने क्या कहा था- उनके संकलन का साधन श्रुति और स्मृति ही थी- जो मौखिक परम्परा में जैसे-तैसे बच रही थी। परिषदों में होने वाले विचार-विमर्श से तो अपनी विचार परम्परा समृद्ध होती ही थी- विरोधी मतों द्वारा उठाये गए प्रश्नों के समाधान से भी वह परिष्कृत और समृद्ध होती थी। शास्त्रार्थ या वैचारिक टकराहट में समर्थ चिन्तक कभी-कभी पूर्वपक्ष में विपक्षी के पक्ष को बहुत ऊपर तक उठाते जाते थे और फिर उतने ही आत्मविश्वास से उस पूर्वपक्ष का समाधान भी करते थे। डॉ० राधाकृष्णन् की तो धारणा है कि स्वयं जैन मत अपने समय के जीवन सम्बन्धी विभिन्न मतों के भीतर से किसी संगत मत को पाने की बेचैनी से उद्भूत हुआ था।

वाचिक परम्परा की यही श्रुति-स्मृति पद्धति (सुनना और स्मृति में संजोए रखना) बौद्ध वाङ्मय के पीछे भी विद्यमान है। इसका विकास अपने संघ में होने वाले विचार-विनिमय तथा विपक्षियों से टक्कर लेने वाले शास्त्रार्थों के माध्यम से होता रहा। इनका मूल वाङ्मय है-त्रिपिटक। पिटक अर्थात् नैतिक नियमों की पिटारियाँ। बुद्ध के मौखिक उपदेश परम्परा और स्मृति में संजोए गए थे-उनके निर्वाण के बाद उनके अनुयायियों में कुछ विवाद उठ खड़े हुए। निर्णयार्थ राजगृह में एक परिषद् बुलाई गई। यह प्रथम संगीति थी। बुद्ध के उपदेश मागधी में मौखिक रूप से होते थे। सारनाथ में पाँच भिक्षुओं के सामने उनका प्रथम मौखिक उपदेश हुआ था। अभिप्राय यह कि यह मौखिक परम्परा जिसमें वाचनाएँ होती थीं- चलती रही। राजगृह में महाकश्यप के सभापतित्व में आनंद के सहयोग से 'सुत्तपिटक' तथा उपालि के सहयोग से 'विनयपिटक' का संकलन हुआ। 'सुत्तपिटक' के अन्तर्गत 'मातिका' (मातृका-दार्शनिक अंश) के पल्लवीकरण से 'अमिधम्मपिटक' का निर्माण हुआ। इस परिषद् में कश्यप से कहा गया कि वे अमिधम्मपिटक में प्रतिपादित अध्यात्म विद्या विषयक विचारों का पाठ करें। इसी प्रकार पुरातन शिष्यों में से एक से कहा गया कि वह 'विनयपिटक' में मिलने वाले अनुशासन के नियमों एवं उपनियमों को पढ़कर सुनाए। इस प्रकार शिक्षकों एवं शिष्यों द्वारा दीर्घकाल तक प्रवाहित विचारों को ई. 80 के बाद लंका के राजा वत्तगामनि के शासन में लिपिबद्ध किया गया। इस प्राचीनकाल में विद्वान भिक्षु तीनों पिटकों एवं उनके ऊपर की गई टीकाओं को भी मौखिक प्रचार द्वारा ही आगामी सन्तति तक पहुँचाते थे-बाद में इनमें विश्वसनीयता और स्थिरता लाने के लिए लिपिबद्ध कर लिया गया। मिलिन्द पणह-भी ऐसा ही संवाद ग्रन्थ है-जिसको

कहीं-कहीं धर्मशास्त्र के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। इसी क्रम में हीन, महा और वज्रयान का साहित्य तथा संबद्ध दार्शनिक निरूपण परिषदों में पारस्परिक संवाद तथा प्रतिवादियों से शास्त्रार्थ के माध्यम से विकसित होता रहा।

जहाँ तक ब्राह्मण दर्शनों का सम्बन्ध है-उसका तो मूल ग्रन्थ ही श्रुति है-जिसे सुनाने-सुनने की पाठबद्ध परम्परा ने विकृत नहीं होने दिया। श्रुति या 'निगम' के अतिरिक्त 'आगम' भी वक्ता-श्रोता के कूलों में ही निबद्ध हैं। कहा गया है-

*आगतं शिव वक्त्रानुगतं च गिरिजा मुखम् ।  
मतं न वासुदेवेन तस्मादागम उच्यते ॥*

वक्ता श्रोता के कूलों में ही हमारा सारा इतिहास पुराण निबद्ध है। इसका प्रभाव काव्य तक पर पड़ा। रामचरितमानस के चार घटों का वक्ता-श्रोता-परम्परा को देखकर कुछ लोग 'मानस' को पौराणिक महाकाव्य कह देते हैं। इस प्रक्रिया में षड्दर्शन भी निबद्ध हैं। परम्परागत दार्शनिक निरूपण सूत्रबद्ध होकर सूत्रकाल में आए और उन पर टीका, वृत्ति और भाष्य का अम्बार खड़ा होता गया। 'शतदूषणी' और 'शतभूषणी' शास्त्रार्थ पद्धति की ही परिणतियाँ हैं। वाचिक परम्परा में प्रवाहित दार्शनिक निरूपणों का जो सूत्रबद्ध रूप उपलब्ध है-उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि इन छहों दर्शनों-न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (के विभिन्न सम्प्रदाय) में पहले कौन है? सभी दर्शनों में सभी का उल्लेख मिलता है- फलतः इनमें पौर्वापर्य का निर्णय नहीं होता। योग दर्शन सांख्य की सत्ता स्वीकार करता है। न्याय में वेदान्त है और सांख्य का विवरण पाया जाता है। मीमांसा प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में अन्य सभी दर्शनों के पूर्व अस्तित्व का पता देती है और इसी प्रकार वेदान्त में भी अन्य सभी दर्शनों का हवाला मिलता है। टीकाकाल भी द्वितीय ई. से भी आरम्भ होता है। इस काल में धुरन्धर विचारकों का नाम सुनाई पड़ता है जिनमें तपः पूत प्रातिभ क्षमता विद्यमान थी। इस काल का साहित्य शास्त्रार्थी और विवादों से ग्रस्त है। यह वह काल है जहाँ तार्किकों का एक जत्था मिलता है। कोलाहलपूर्ण वाद-विवाद में रत, अत्यन्त सूक्ष्म सिद्धांतों में लिस और युक्ति तथा प्रमाणों का सूक्ष्म ताना-बाना बनाने वाले तार्किक, जो सामान्य स्थापनाओं पर परस्पर वाग्युद्ध करते रहे।

इस प्रकार भारतीय परम्परा का दार्शनिक निरूपण वाचिक परम्परा में ही है-भले उसे लिपिबद्ध कर लिया गया हो। उत्तरवर्ती प्रयासों को देखने से लगता है कि परम्परा एक ढाँचे में ढलने लगती है-जहाँ लोग समाज विषयों को अपनी-अपनी समझ से शब्दान्तर में रखने लगते हैं-उनमें वह प्रारम्भिक प्रातिभ पैनापन नहीं दिखाई देता-जिससे नवीन उद्भावनाएँ आती थीं।



# लोक संस्कृति और वाचिक परम्परा

कर्मन्दु शिशिर

अगर मानव समाज की सबसे बड़ी उपलब्धि 'भाषा' का विकास है तो बेशक इसमें भी सर्वोत्कृष्ट और अनुपम उत्कर्ष है-उसका रचनात्मक सृजन। सृजन बिना अभिव्यक्ति के नहीं हुआ करता। इस तरह जितना प्राचीन मनुष्य का सृजन है-उतनी ही प्राचीन है अभिव्यक्ति की आदि परम्परा! सृजन अभिव्यक्ति की यह पुरातन परम्परा तमाम अत्याधुनिक प्रगति के बावजूद आज भी मौजूद है तो इसके पीछे एक ही शक्ति की भूमिका रही-मानव समाज की अबाध सृजनशीलता की। बगैर स्थायित्व और यश की परवाह किये मनुष्य युगों से अपनी भावनाओं और अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता रहा है। पूर्व और पश्चिम दोनों के प्राचीनतम साहित्य को देखें तो हम पायेंगे कि गद्य और पद्य-दोनों रूपों में वाचिकता की सुदीर्घ परम्पराएँ मिलती हैं। मुद्रण-कला के विकास के साथ इस वाचिक परम्परा के द्वारा ढोयी जाती सृजनात्मक निधि का चाहे जितना भी संचयन संभव हुआ हो-इसमें दो मत नहीं कि इसका विपुलांश विनष्ट ही हुआ है। होमर और दांते की गाथाएँ अरबियन नाइट्स की कथाएँ रामायण, महाभारत, पंचतंत्र, हितोपदेश, वैतालपंचाशिका बृहद्कथा, बृहदकथा मंजरी, था।सरित्सागर से पौराणिक गाथाओं और लोककथाओं तक हमें वाचिक परम्परा के संकेत और प्रमाण मिलते हैं। भारतीय साहित्य में आदिग्रंथ वेदों की सुरक्षा, घन जटा, पाठ आदि वाचिक परम्परा की पद्धतियों से ही संभव हुआ। इस तरह विश्व के प्राचीन साहित्य से भारतीय वाङ्मय के विपुलांश क्लासिक साहित्य को हम वाचिक परम्परा की ही उपलब्धियों में गिना सकते हैं। मुद्रण-कला के विकास और प्रसार के साथ वाचिक परम्परा के क्षीण होने को हम सहज-स्वभाविक, अनिवार्य और उपादेय भी मान सकते हैं लेकिन लोक-साहित्य के आसंग में हम ऐसा निश्चयात्मक पूर्वक नहीं कह सकते।

लोक-साहित्य आदिम मानव समाज की अनवरत सृजनशीलता का जीवित साक्ष्य है। मुद्रण और इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों की बहुलता के बावजूद लोक सृजन के संचयन की पूर्णता का दावा नहीं किया जा सकता-इसलिए वाचिक परम्परा की मौजूदगी को नकारना भी असंभव है। प्रश्न यह है कि क्या लोकसाहित्य को लिखित परम्परा में उसके प्रकृत रूपों के साथ बचाया जा सकता है? इस पर विचार करते हुए हमें

वाचिक परम्परा की सीमाओं और खूबियों का भी आकलन करना होगा। बुनियादी बात यह है कि लोकसर्जक अनिवार्यतः साक्षर हो ही-यह जरूरी नहीं। वे अपनी प्रकृत सृजनशीलता में काफी हद तक प्रकाशन के प्रति उदासीन या अनभिन्न होते हैं। फिर प्रत्येक सृजन-कर्म के लिखित रूप तक पहुँच पाने की प्रक्रिया पूरी करने में लोकसर्जक की क्षमता पर्याप्त नहीं पड़ने वाली। लेकिन यह सब संभव कर दिया जाय तब भी सबसे बड़ी बात रह ही जाती है कि लोक साहित्य का आदिम राग, भाव, मुद्राएँ, अर्थ-छबियाँ और नाद-सौंदर्य मुद्रित रूप में कैसे संचित होगा? बिना इन खूबियों के लोकसाहित्य अपनी पूर्णता में कभी अभिव्यक्त नहीं हो सकता। अगर हम अत्याधुनिक उपकरणों से उनके संचयन को संभव करते हैं-तो भी यह वाचिक परम्परा के कायम रहने से ही संभव है। इसलिए वाचिक परम्परा के पूरी तरह विलुप्त करने की बात लोकसृजन की आदिम अभिव्यक्ति की इस दुर्लभ उपलब्धि को खो देने की एक बड़ी क्षति सिद्ध होगी। इसलिए हर स्थिति में वाचिक परम्परा को समानांतर कायम रखने की बात ही श्रेयस्कर है। वाचिक परम्परा की सबसे बड़ी सीमा यह है कि जहाँ लिखित परम्परा में हम सृजन को अनुवादों के द्वारा पूरी दुनिया में फैली विभिन्न भाषाओं में प्रसार द्वारा व्यापक और विस्तृत भूगोल तक पहुँचाना संभव कर पाते हैं। यह सब वाचिक परम्परा में बिलकुल संभव नहीं। वाचिक परम्परा की अन्य सीमाओं में सृजित साहित्य के मूल रूप के क्षतिग्रस्त होने की है। सर्जक के अक्सर अनाम रह जाने की है। वाचिक परम्परा में परिवर्तन और पाठ-भेदों की संभावना निरंतर बनी रहती है-इसमें मूल सृजित रूप को बचाये रखना संभव नहीं होता। इसलिए वाचिक परम्पराओं से सृजित साहित्य के संचय की समानांतर कोशिशों को न सिर्फ बनाये रखने की बल्कि इसे और अधिक व्यापक और सघन करने की बड़ी जरूरत है।

इस 'बड़ी जरूरत' के पीछे की समझ और सोच भी उतनी ही जरूरी है। वाचिक परम्परा या ऐसी ही दूसरी परम्पराओं के प्रति अतीतजीवी रोमान रखने वालों से उतनी ही क्षति है-जितनी अति आधुनिकता में इसके व्यवसाय करने वालों से। खतरे के या कहिये विचलन के ये दो मुख्य स्रोत हैं। लोक परम्पराओं के प्रति हमारे सरोकार, लोकसमाजों के प्रति हमारी समझ और सलूक से बनने चाहिये तभी हम समकालीन आसंगों में उनके संरक्षण और संवर्धन का विवेक विकसित कर सकते हैं। भोजपुरी वसंत गीतों के चयन प्रसंग में मैंने जिन लोकगीतों को सामूहिक वाचिक परम्परा में मूर्त रूप से देखा-सुना था-वह प्रभाव आयोजित मंच के प्रदर्शन, टेप या लिखित रूप से कतई हासिल नहीं हुआ। मुझे तब भी यह अहसास हुआ था कि वाचिक परम्पराएँ अपने प्रकृत रूप में निर्विकल्प हैं। इसलिए भी मुद्रण, टेप और फिल्म जैसी विविध विधाओं या माध्यमों के द्वारा ही हम उन्हें संरक्षित कर सकते हैं। आधुनिक समय का दबाव

और आयातित सांस्कृतिक हस्तक्षेप से जो अराजक स्थिति पैदा हुई है-उसमें इस आदिम परम्परा को भगीरथ प्रयत्नों से बचाये जाने की अहमियत और बढ़ जाती है।

अगर हम लोक समाज के सांस्कृतिक व्यवहारों में प्रवेश करें तो पायेंगे कि कथाओं और लोकगीतों की वाचिक परम्पराओं के कारण उनमें भरपूर संवेदनशीलता और सांस्कृतिक संस्कारों की सम्पन्नता मिलती है। उन समाजों में पायी जाने वाली सामूहिकता और आत्मीयता इन्हीं परम्पराओं से पुष्ट होती है। लोकजन इन परम्पराओं से सिर्फ सांस्कृतिक भूख शांत करता है-ऐसी बात नहीं। यह उनके लिए मनोरंजन नहीं जीवन का अनिवार्य अंग है। इन्हीं परम्पराओं की प्रक्रिया में निर्मित अनिवार्य सामूहिकता उनके आपसी रिश्तों तक को सबल, सजल और स्निग्ध करती है। दरअसल लोक साहित्य की प्रकृति ऐसी है कि उसके प्रभावों और सरोकारों को लिखित परम्परा में बदलकर संभव नहीं किया जा सकता। मेला जाती स्त्रियों के समूहगान, रोपनी, फसल कटाई या माँगलिक अवसरों पर गाये जाने वाले समूह गान जैसी वाचिक परम्परा की अवहेलना कर आखिर किस भिन्न तरीके से बचाव संभव किया जा सकता है? हमारे लिए इस परम्परा की जो भी अहमियत हो, न हो-लेकिन लोकजन के लिए तो इसका दूसरा विकल्प नहीं। अगर हम उन्हें वाचिक परम्परा से महरूम कर देंगे तो उनकी न सिर्फ रचनात्मक सृजनशीलता समाप्त हो जायेगी बल्कि उनका जीवन दूभर हो जायेगा। इसलिए वाचिक परम्परा को पूरी तरह निर्मूल करने की आत्मघाती कल्पना भी नहीं की जा सकती।

वाचिक परम्परा एक संपूर्ण अभिव्यक्ति माध्यम है और सुदीर्घ काल से है। इसलिए इस रूप की अपनी विशिष्टताएँ-इसके सृजन को भी विशिष्ट बनाती हैं। यह एक स्वतंत्र और गंभीर अनुसंधान-अध्ययन से ही हम जान सकते हैं कि वाचिक परम्परा में सृजित साहित्य के वे कौन-कौन वैशिष्ट्य हैं-जो दूसरे अभिव्यक्ति माध्यमों के सृजन से भिन्न और मौलिक हैं। क्योंकि इस बात का भी ख्याल रखना होगा कि लोकसाहित्य मुद्रित या टेपित हो जाने मात्र से वाचिक परम्परा से विछिन्न नहीं हो जाता। मुद्रित या टेपित हो जाने के बावजूद वह वाचिक परम्परा का ही होता है। इसलिए उसकी मौलिकता की सूक्ष्म परख जरूरी है। यह मौलिकता शैली तक ही नहीं बल्कि अंतर्वस्तु तक सन्नद्ध होती है। वाचिक परम्परा से सृजित साहित्य में लोकजन के व्यवहारों सरोकारों, विचारों और भावनाओं का जो यथार्थ अपने प्रकृत रूप में अभिव्यक्त होता है क्या वह भिन्न अभिव्यक्ति रूपों में थोड़ा या अधिक धुँधला जाता है? यथार्थ का कुछ हिस्सा ओट में चला जाता है? ओझल रह जाता है? अगर ऐसा है तो कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति सृजन के आसंग में यथार्थ की कीमत पर कोई समझौता नहीं कर सकेगा। हमें इस परम्परा को अपनी सांस्कृतिक सम्पन्नता की अनिवार्यता के लिए संरक्षित और संवर्द्धित करने की जरूरत है।

# लोक की खोज में

डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त

सबसे पहले मैं उस सर्वव्यापी, सर्वज्ञानी और सर्वशक्तिशाली लोक को प्रणाम करता हूँ, जिसके लोकदर्शन में सभी दर्शन और लोकधर्म में सभी धर्म व्याप्त हैं, जिसके लोकमूल्यों में तत्कालीन उपयोगी मूल्यों और लोकादर्शों में मांगलिक आदर्शों का संगम है तथा जिसके लोकभाव में सभी भावों और लोकरस में सभी रसों की समाहित है। वह ग्राम में है और नगर में भी। हर समुदाय और वर्ग में है। लोकाचरण और लोककर्म उसकी भुजाएँ हैं तथा लोकगीत और लोकावर्तन उसके चरण। ऐसे अगणित हाथ-पैर और मस्तिष्क वाले शक्तिपुँज लोक को मैं नमन करता हूँ।

ऐसे लोक की पहचान और परख तभी होती है, जब लोक के प्रति पूरी आस्था और विश्वास हो। लोक को अशिक्षित और गँवार मानने वाले चाहे जितने सुघर जौहरी हों, पर लोक की सही जाँच नहीं कर पाते। उनकी कसौटी में ही खोट है, तब परखाव की निष्पक्षता का प्रश्न ही नहीं उठता। असल में लोक की सही समझ के लिए लोकत्व का सही ज्ञान जरूरी है। पश्चिम में लोक के प्रति जो भी दृष्टि रही हो, पर यहाँ हमें भारतीय दृष्टि और मान्यता का ही आधार लेना है और लोक की शक्तिमयी मूर्ति ही प्रतिष्ठित करना है। इस सबके लिए लोकभूमि पर खड़े होकर लोकचेतना के स्तर पर लोक से जुड़ाव अनिवार्य है। लोकजीवन के लोकानुभवों को जीना और महसूसना और भी महत्वपूर्ण है। इसका मतलब यह नहीं है कि कोई गाँव में ही बस जाय, वरन् उसे मन से लोकधर्मी होना जरूरी है। बिना किसी पूर्वाग्रह और शर्त के। नगर का चश्मा या किसी मत अथवा वाद की आँख लगाने से लोक का व्यक्तित्व अपने वास्तविक रूप में नहीं दिखता। अतएव लोक-चेतना की गंगा लाने के लिए भागीरथी मन चाहिए।

आज की प्रजातंत्री व्यवस्था में लोक सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। लेकिन चार-पाँच दशक पुराना हमारा प्रजातंत्र लोक की शक्ति के प्रति उपेक्षा की दृष्टि से देखता रहा है। यह सही है कि सभी उसे किसी न किसी प्रकार हथियाना चाहते हैं, लेकिन यह भी सही है कि उसके

प्रति सम्मान की भावना किसी में नहीं रही। उल्टे उसके विकास की दिशा और गति को अनदेखा करने का स्वभाव बन गया है, जैसे कि वे लोक से अलग हों। गाँव का लोक तो और भी उपेक्षित रहा है, जिससे गाँव और नगर के बीच की खाई चौड़ी होती गयी और निर्बल होती गाँवों की लोकशक्ति शहरों की लम्बी बाहों और बड़े पेटों में खोती जा रही है। लोकसंस्कृति, लोकसाहित्य और लोककलाओं को मंचों की शोभा और मनोरंजन का साधन बनाकर उन्हें लोक से दूर रखने का प्रयास किया जा रहा है, जबकि ये लोक की प्रेरणा और सुरक्षा के साधन हैं। वस्तुतः उन्हें लोक में ही प्रतिष्ठापित कर सम्मान प्रदान किया जाना चाहिए और इसी उद्देश्य से उनका अध्ययन उचित है। तात्पर्य यह है कि हर दिशा लोक केन्द्रित हो और लोक के प्रति पूरी तरह उत्तरदायी। यदि लोकतंत्र को सार्थक बनाना है, तो लोक और उससे संबंधित समस्याओं की निरख जरूरी है।

### ऐतिहासिकता की खोज

हर अंचल का अपना इतिहास होता है और उसकी लोकसंस्कृति तथा लोकसाहित्य का भी। लोकवार्ता के अध्ययन में सबसे खटकने वाली कमी यही है कि विद्वानों ने उसे इतिहास-चेतना से नहीं जोड़ा। आप ही बताएँ, जब लोक, संस्कृति और साहित्य का इतिहास हो सकता है, तब लोक से सम्बद्ध लोकसंस्कृति और लोकसाहित्य का क्यों नहीं हो सकता? असल में, उनके संबंध में एक भ्रम फैला दिया गया है कि वे आदिम मानस की उपज हैं, स्थिर हैं, उनमें कभी बदलाव नहीं होता। यह सही नहीं है, क्योंकि जब लोक बदलता है, तो लोकसंस्कृति और लोकसाहित्य भी बदलते हैं। यदि स्थिर ही रहेंगे तो नये संदर्भों में उपयोगी नहीं हो सकते। मेरा मतलब यह नहीं है कि लोकसंस्कृति में शाश्वत लोकमूल्य नहीं होते, लेकिन युग के परिवर्तन के साथ-साथ लोकसंस्कृति में भी परिवर्तन आता है, इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता और इसमें भ्रम उत्पन्न करना एक आत्मघाती प्रयत्न है।

वस्तुतः इतिहास में केवल राजा-महाराजा के युद्धों, जीवनवृत्तों और सांस्कृतिक समवायों (पैटर्न्स) की ही प्रधानता रही है तथा उनके द्वारा निर्मित शिलालेखों, पटों, सनदों, ताम्रपत्रों आदि को ही प्रामाणिक माना गया है। लोक के इतिहास, संस्कृति और लोकप्रमाणों को महत्व नहीं दिया गया है, इसलिए आज हमारा इतिहास अपूर्ण है। वह शासकों का इतिहास है, जनता का नहीं। कठिनाई यह भी है कि लोकसंस्कृति और लोकसाहित्य के यज्ञकर्म में विशिष्ट या सामान्य भागीदारी का मूल्यांकन पहले कभी नहीं हुआ। लोकगीतकारों, लोककथाकारों आदि सृजनशील प्रतिभाओं ने अपनी रचनाओं में न तो कोई नाम या संकेत छोड़ा है और न अपना समय। इन कठिनाइयों के बावजूद इतिहास-लेखन के कुछ प्रयत्न किये गए हैं। 'लोकगीतों का काल-निर्धारण', 'लोकभाषा के संघर्ष के ऐतिहासिक दस्तावेज',

'बुन्देली लोकनाट्य स्वांग', 'नित नव रंग अखारे होई.....' आदि निबंधों से एक तरफ लोकभाषा और लोकसाहित्य के इतिहास के सूत्रों को स्पष्ट करने की कोशिश की गयी, तो दूसरी तरफ 'मध्यकालीन लोककाव्य', 'बुन्देलखण्ड का अज्ञात बारामासी काव्य', 'बुन्देली लोकनाट्यों की परम्परा', 'आल्हा गायकी : इतिहास और विश्लेषण', 'बुन्देली लोकसंस्कृति का उद्भव और विकास' जैसे वृहत् निबंधों से इतिहास-लेखन को व्यावहारिक रूप दिया गया। इस तरह लोकसंस्कृति और लोकसाहित्य के इतिहास-लेखन का कार्य भारतीय लोकवार्ता में पहली बार हुआ है। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि इस दिशा में बुंदेलखण्ड अंचल आगे रहा है। मुझे विश्वास है कि दूसरे अंचलों में भी इस तरफ रूचि बढ़ेगी और गतिशीलता आयेगी।

### युगबोधी चेतना का प्रतिनिधित्व

एक विचित्र बात यह है कि लोकसंस्कृति, लोकसाहित्य और लोककला को इसलिए उपेक्षित रखा गया है कि उनमें न तो युग को प्रतिबिम्बित करने की क्षमता है और न बदलते युग के अनुरूप विचार या मूल्य देने की। अक्सर यह आरोप चप्पा कर दिया जाता है कि वे अपनी स्थानीयता या आंचलिकता के कारण संकीर्ण हैं और उनमें अलगाव की प्रवृत्ति है। वास्तविकता यह है कि उनकी युगचेतना और जातीयता को हमेशा अनदेखा किया गया है और उसके पीछे लोकमानस को आदिम मानने की भ्रान्ति रही है, जो आज भी अपनी मोटी परतों से सत्य के अंगारे ढके हुए है। लोकमानस लोक की चेतना की तरह अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य से जुड़ा है। संस्कारपरक, पौराणिक और ऐतिहासिक लोकगीतों में उसका अतीत बोलता है। पारिवारिक संबंधों, सामाजिक उत्सवों और समस्याओं के गीतों तथा सैर, मंज, लाउनी, लेद आदि फड़गीतों में वर्तमान के दर्शन होते हैं और गारी, फाग, दिवारी आदि लोकगीत भविष्य की चिन्ता में आगे रहते हैं। अकाल, युद्ध, स्वतंत्रता-संग्राम जैसी राष्ट्रीय घटनाओं, आल्हा, छत्रसाल, रानी लक्ष्मीबाई, गाँधी बाबा जैसे राष्ट्रीय व्यक्तित्वों और मँहगाई, दहेज, अनमेल विवाह, अँग्रेजी फैशन और अँग्रेजी भाषा जैसी राष्ट्रीय समस्याओं को केन्द्र में रखकर जो लोकगीत या लोकसाहित्य रचा गया है, उसे ध्यान में न रखना इतिहास को नकारना है। ऐसा सोचना गलत है कि लोकसाहित्य केवल हृदय की वस्तु है। यदि विभिन्न अंचलों के लोकसाहित्य का अध्ययन गहराई से किया जाय, तो स्पष्ट हो जाएगा कि उसमें विचार और बौद्धिकता की एकरूपता है और इससे लोकसाहित्य की व्यापकता, उसकी लोकचेतना और लोकमानसिकता की समष्टि स्पष्ट हो जाती है।

कुछ लोकगीत और लोकगाथाएँ तो इतिहास के विस्मृत प्रसंगों को ताजा करते हैं, कुछ इतिहास की भूल सुधारते हैं और कुछ इतिहास बनाते हैं। उदाहरण के लिए चंदेलकालीन 'कजरियन के राछरे' में बहिन की लाज बचाने के लिए भाई के संघर्ष और बलिदान

की कथा है, जबकि 'मथुरावली' की गाथा में मथुरावली स्वयं जल जाती है क्योंकि उसके पति और भाई मुगलों के सामने कायरता दिखाते हैं। हरदौल का इतिहास में कोई खास नाम नहीं है, पर पूरे उत्तर भारत में उनकी पूजा होती है। हरबोलों की लोकगाथाओं ने उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में ही बुन्देलखण्ड के जन-जन को जगाकर 1857 ई. की आजादी की लड़ाई के लिए तैयार कर दिया था और 1840-42 ई. के जैतपुर युद्ध में प्रथम क्रान्तिकारी पारीछत ने अँग्रेजों से लोहा लेकर मार्गदर्शन किया था, इन दोनों प्रसंगों के लोकसाहित्य को समझे बिना न तो 1857 ई. का स्वतंत्रता संग्राम समझा जा सकता है और न बुन्देलखण्ड की तत्कालीन परिस्थिति का पता चल सकता है।

लोकवार्ता में लोकदर्शन और लोकधर्म के इतिहास का प्रमुख महत्व है, क्योंकि उससे हर युग की लोकचेतना और वैचारिकता की प्रवृत्ति मालूम पड़ती है। अभी तक भारत एवं अन्य देशों में लोकदर्शन और लोकधर्म के स्वरूप और विकास पर विचार नहीं किया गया। बुन्देलखण्ड अंचल को ही प्रथम बार उनकी व्याख्या और ऐतिहासिक अनुशीलन का श्रेय है। अगर आप दोनों निबंधों को देखें, तो लोकसाहित्य में बिम्बित युगचेतना का क्रमिक विकास स्पष्ट हो जाएगा। एक फाग पर विचार करें-

कैसी छाई हिये नादानी, करत सदा मनमानी।  
खीर खाँड़ कौ पिण्ड खांय को, देत बनाकर सानी।  
दोर समान मान पितृन को, देत तलैयाँ पानी।  
जिये पिता की बात न पूँछी, मरें भये बरदानी।  
'बन्देव' तजो पोपलीला को, तुम सों कहत बखानी॥

लोकसंस्कृति और लोकसाहित्य में पूजा-रचना और उसकी विधियों को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है, परन्तु लोककवि जब कर्मकाण्ड का विरोध करता हुआ ललकारता है, तब उसे मूल्यों के संक्रमण-काल में एक चुनौती भरी चेतावनी ही मानना चाहिए। क्या यह युगचेतना की बानगी नहीं है ?

### राष्ट्रीयता की छाप

इसी संदर्भ में यह कहना उचित है कि लोकसाहित्य में तत्कालीन राष्ट्रीयता के विविध चित्र अंकित हुए हैं। एक तरफ देशप्रेम और राष्ट्रीय एकता की शाश्वत भावना कई रूपों में उभरी है, तो दूसरी तरफ संकल्पित संघर्ष की जुझारू छवियाँ बार-बार चमकी हैं। पहले रूप की राष्ट्रीयता गिरि, वन, सरिता, वृक्ष आदि के प्रेम-भाव में भी है और स्वतंत्र अभिव्यक्ति में भी। एकता की बानगी देखें-

एक पेड़ मथुरा जमो, डार गयी जगन्नाथ रे।  
फूल जो फूलो द्वारका, फल लागे बद्रीनाथ रे॥

इस दिवारी गीत में वृक्ष के रूपक द्वारा एकता की भावना

व्यक्त हुई है। मनोगूजरी जैसी गाथाओं में विदेशी आक्रमणकारी से जूझने का निराला संकल्प है। केवल शस्त्रों से नहीं, वरन् भीतरी ऊर्जा से भी। मनोगूजरी संघर्ष की आस्था है, जो मध्ययुग में बहुत भीतर से जागरूक थी अँग्रेजों के खिलाफ जूझने के लोकगीत बलिदान भावना और स्फूर्ति से भरे पड़े हैं। हरबोलों की गाथाओं और लोककवियों के ओजपरक लोकगीतों में वह आस्था और भी मजबूत हुई है। बाद में गाँधी बाबा के गीतों में अहिंसक संघर्ष की कल्पना भी लोक तक पहुँची और सूत कातना, हड़ताल करना लड़ाई के माध्यम बन गए। क्या यह सब संकीर्ण क्षेत्रीयता है या लोक की सच्ची राष्ट्रीय चेतना ? मैं तो दावे के साथ कहता हूँ कि लोक संस्कृति और लोकसाहित्य जहाँ एक अंचल के हैं, वहाँ पूरे राष्ट्र के। काव्य को राष्ट्रीय बनने के लिए पहले लोककाव्य होना ही पड़ेगा, फिर लोककाव्य की राष्ट्रीयता और जातीयता पर किसी को संदेह नहीं होना चाहिए। जिस तरह हर अंचल राष्ट्र का अंग है, उसी तरह लोकसंस्कृति और लोकसाहित्य।

### सही समझ की जरूरत

आरोपों का उत्तर देना सरल है, पर लोकसंस्कृति, लोकसाहित्य और लोककला की सही समझ बहुत जरूरी है। लोकसंस्कृति के स्वरूप का निर्धारण अक्सर विभिन्न कालों के लोकगीतों के आधार पर किया जाता है। एक लोकगाथा या लोकगीत इस्लाम युग के पूर्व का है, एक मुगल युग का और एक अँग्रेजों के समय का तीनों को साथ लेकर लोकमूल्यों, लोकाचरण, रीति-रिवाजों आदि की रेखाओं द्वारा लोकसंस्कृति का चित्र प्रस्तुत कर देना एक सामान्य प्रणाली बन गई है। इस रूप में अब तक लोकसंस्कृति का सही रूप प्रकाश में नहीं आ पाया। हुआ यह है कि लोकसंस्कृति और लोकसाहित्य को 'आदिम' मान लिया गया है और इस तरह उसकी गतिशीलता और प्रवर्तन-शक्ति बिलकुल निर्बल समझ ली गयी है। जरूरत है लोकसंस्कृति को युग के परिप्रेक्ष्य में परखने की और उसे संस्कृति एवं सभ्यता के प्रेरक स्रोत की तरह आँकने की। आपको ऐसे प्रमाण भी मिलेंगे, जो यह स्पष्ट करने में समर्थ हैं कि संकटकाल में लोकसंस्कृति ने ही भारतीय संस्कृति की रक्षा की है। लोकसंस्कृति भारतीय संस्कृति की जड़ है। जिस तरह जड़ पूरे वृक्ष और उसके हर अंग को अपने रस से पुष्ट करती है, उसी तरह लोकसंस्कृति से ही भारतीय संस्कृति पल्लवित, पुष्पित और फलित होती है। असल में लोकसंस्कृति लोकाचरण की संस्कृति है, कथनी की अपेक्षा करनी की संस्कृति है, इसलिए उसके लोकादर्शों और लोकमूल्यों की कसौटी है लोकाचरण। इसीलिए उसमें रूढ़ियाँ अपने आप विलीन होती जाती हैं और सहज परिवर्तन होता जाता है। लोकसंस्कृति राष्ट्र की अन्दरूनी शक्ति है, जो अन्दर ही अन्दर राष्ट्र को मजबूत करती है और अराष्ट्रीय तत्वों को नष्ट करती है। यह सब सही रूप में देखने और समझने पर ही लोकसंस्कृति के साथ न्याय हो सकता है।

लोकसाहित्य और लोककला अथवा यों कहें कि लोककृति को व्यक्ति की रचना न मानकर लोक की रचना कहा जाता है। वस्तुतः वह व्यक्ति की ही सृष्टि होती है, लेकिन उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति में लोकतत्व इतने प्रभावी होते हैं कि वह सर्जक के नाम से जुड़ी न रहकर लोक की बन जाती है और उसमें लोक भी कुछ-न-कुछ जोड़ता-घटाता है। कुछ विद्वान अनुभूति को सबकुछ मानकर लोकसाहित्य के शिल्प को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। वे शिल्प के नकारने को ही लोकसाहित्य की कसौटी समझते हैं। ऐसी स्थिति में एक प्रश्न खड़ा हो जाता है कि यदि लोकसाहित्य साहित्य है, तो उसके शिल्प का मूल्यांकन क्यों नहीं होना चाहिए? यह सही है कि लोकसाहित्य की अभिव्यक्ति अनायासित और अनगढ़ होती है, सहजता और निरलंकृति उसकी प्रमुख विशेषता है, लेकिन शिल्प का ऐसा सौष्ठव और भी अधिक अनुकरणीय है। फिर लोकशब्दों की मिटास, लोक उपमानों की सटीकता और संगीतात्मक लय का सहज प्रवाह अभिव्यक्ति के ऐसे आदर्श उपकरण हैं कि नयी से नयी कविता या निबंध उन्हें अपनाने से नहीं चूकते। लोकसाहित्य की मौखिक परम्परा के साथ-साथ उसकी लिखित परम्परा के अध्ययन से बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। ईसुरी की फागों के हस्तलिखित संग्रहों और लोकगीतों के रूप में प्रचलित कविताओं की हस्तलिखित प्रतियों से यह स्पष्ट है कि लोकगीत व्यक्तिरचित गीत हैं और उनका मूल्यांकन उसी तरह किया जाना उचित है। इस तरह लोकसाहित्य की रचना-प्रक्रिया और मूल्यांकन को सही दृष्टि से देखा जाना बहुत जरूरी है। अभी-अभी कुछ वर्षों पूर्व प्रकाशित दो निबंधों-‘ईसुरी को समझने की जरूरत’ और ‘ईसुरी की काव्य-प्रेरणा और रचना-प्रक्रिया’ में इन मुद्दों के समाधान पर काफी विचार किया गया है।

### लोकभाव और लोकरस

इसके अतिरिक्त लोकसाहित्य या लोककला में लोकभाव और लोकरस की प्रधानता होती है और यदि दोनों को ठीक से परखा जाय, तो लोक-साहित्य को समझने में कभी गलतफहमी नहीं होगी। लोकभाव वह है जो लोक के हर सदस्य के मन की वस्तु है, किसी असाधारण मन की नहीं। वह सहज अकृत्रिम और अनगढ़ होता है। उसमें वह आदिम या असामान्य-प्रवृत्ति नहीं होती, जो लोक में नहीं है। कुछ भाव को नितान्त वैयक्तिक निधि मानते हैं, पर उनसे सहमत होना इसलिए कठिन है कि कोई भी भाव समाज के परिवेश में जन्मता और विकास पाता है। मनोविज्ञानवेत्ता भी स्वीकार करते हैं कि हर सामान्य मानव के भाव-संसार में लोकधर्मी वृत्ति होती है, जिससे वह वैयक्तिक होता हुआ भी लोक के दूसरे मानव तक पहुँच रखता है। भाव के लोकीकरण की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है और जो भाव जितना लोकीकृत होकर लोकभाव बन जाता है, उतना ही लोकमान्य होता है। ‘आल्हा’ में आल्हा-ऊदल की माता देवलदे और चंदेलनरेश परमर्दिदेव की पटरानी मालहनदे जब सामान्य नारी की तरह नाचती-

गाती है, तब लोकहृदय एकदम खिल पड़ता है। जायसी के प्रबंध पद्मावत में नागमती अपना रानीपन भूलकर साधारण स्त्री की तरह रो पड़ती है, तब उसका वियोग अद्वितीय हो जाता है, क्योंकि उसके साथ हर हृदय रो पड़ता है। ऐसे भाव को ही लोकभाव की पहचान मानना चाहिए। ‘माई के रोये नदिया बहत है, बाबुल के रोये बेलाताल मोरे लाल’ में असीमित करूणा, ‘झुला देव माई स्याम परे पलना। जो मोरे ललना को पलना झुलावै दैहों जड़ाऊ ककना’ में रिस-रिसकर टपकती ममता, ‘बदरिया बरसौ बीरन के देस’ में निवेदित प्रेममयी मनुहार और ‘बना रसगेंदिया न घालौ देखौ लाग जैहै जू’ में बार-बार बरजने से अपनी स्वीकृति देती रसगेंदिया की प्यासी आतुरता जैसी लोकभावनाओं में प्रसंगों की अनुरूपता है, लेकिन-‘सखी री मैं तो भई न बिरज की मोर’ में पछताती कसक और ‘अलगरजी भरे बेलाताल, गगर मोरी ना डूबै रामा। सासू की डूबै ननद की डूबै मोरी रई उतराय, गगर मोरी ना डूबै रामा’ में कसकती अतृप्ति जैसी वैयक्तिक संवेदनाएँ अपनी प्रकृति, सहज और सरल मानसिकता के कारण लोक की बन गई हैं। इन लोक-भावों में निज रागद्वेष से मुक्ति की झंझट नहीं होती और तुरंत साधारणीकरण होता है, अतएव लोककृति का आनन्द भाव के साथ ही अनुभूत हो जाता है। ऐसी आनंदानुभूति को ‘लोकरस’ कहा जा सकता है। इस तरह लोकभाव और लोकरस लोकसाहित्य या लोककला के प्राणतत्व हैं।

### प्रासंगिकता

साहित्य या कला में भाव, विचार और कल्पना की लोकसंबद्धता का अर्थ है उनकी लोकोपयोगिता। जब वे किसी विशेष कालखण्ड में उपयोगी होते हैं, तब उनकी प्रासंगिकता स्वयं सिद्ध होती है। प्रश्न चिह्न वहीं लगता है, जहाँ पुराना लोकमूल्य, लोकसंस्कार, लोकगीत और लोकमूर्ति का लोक में प्रचलन रहता है। लेकिन लोक में प्रचलन ही उपयोगिता की कसौटी है। जो उपयोगी नहीं होता, वह अपने आप पीले पत्ते की तरह झड़ जाता है। वर्तमान काल में बहुत से लोकमूल्य, लोकसंस्कार और लोकगीत लुप्त हो रहे हैं, क्योंकि वे लोकोपयोगी और प्रासंगिक नहीं रह गये हैं। जो बचे हैं और जिनकी वांछा लोग करते हैं, उनकी प्रासंगिकता आज भी है।

यदि हम आज के जीवन और व्यक्ति तथा उनकी समस्याओं को बहुत निकट से देखें, तो जीवन की यांत्रिकता, व्यक्ति की कुण्ठा और सामाजिक चेतना का हास जैसी समस्याओं और मनोवैज्ञानिक रोगों तथा सांस्कृतिक पिछड़ाव का इलाज लोकसंस्कृति, लोकसाहित्य और लोककलाओं में मौजूद है। लोकसाहित्य, लोकनृत्य और दूसरी लोककलाओं में मन की जो उत्फुल्लता है, उल्लास है और उसमें जो सामूहिक भागीदारी है, वह सभी मानसिक विकृतियों की दवा है। साथ ही उनमें आज की टूटन और विलगाव के खिलाफ पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय एकता तथा जुड़ाव के रिश्तों का व्यावहारिक आदर्श है।

## लोकसंस्कृति का व्यापीकरण

आज के विश्व में विषमता और विषाक्तता बहुत ज्यादा है। एक तरफ भौतिकवादी मूल्यों का बढ़ाव है, दूसरी तरफ हथियारों की होड़ से मानवता के विनाश का खतरा है, तीसरी तरफ सम्प्रदायवादी और रंगभेदी कट्टरता का विष है और चौथी तरफ मानसिक तनाव एवं टूटन का साम्राज्य है। चारों तरफ से घिरा व्यक्ति आखिर कैसे बचे? मानवता के अस्तित्व की रक्षा कैसे हो? यह गंभीर प्रश्न हमारे सिर पर तलवार की तरह लटक रहा है। मानवता के पक्षधर प्रहरी गहरे सोच में डूबे हुए हैं। ऐसी स्थिति में क्या लोकसंस्कृति कुछ कर सकती है? मैं समझता हूँ कि लोक संस्कृति में इन सबका उत्तर देने की क्षमता है, विषमताओं, विसंगतियों और विनाश से बचाने की शक्ति है।

लोकसंस्कृति लोक की संस्कृति है, किसी एक जाति या वर्ग की नहीं, लोकमूल्य और लोकाचरण सबके लिए एक-से हैं। चाहे गरीब हो चाहे अमीर, लोक साहित्य और लोक कलाएँ सबके लिए एक अर्थ रखते हैं। उसके लोकदर्शन में किसी विशिष्ट दर्शन और मतवाद तथा लोकधर्म में किसी कट्टर धार्मिकता और सम्प्रदायवाद के लिए कोई गुँजाइश नहीं है। लोकसंस्कृति का घटक मनुष्य केवल मनुष्य होता है, मनुष्यत्व की सम्पूर्ति में लगा हुआ। इसलिए वह हिंसक प्रवृत्ति के विरुद्ध रहता है। दूसरे, लोकसंस्कृति खासतौर से भारतीय लोकसंस्कृति में अध्यात्म की केन्द्रीय शक्ति है, जिससे वह एक तरफ हिंसा एवं शस्त्रों की होड़ से बचाती है, तो दूसरी तरफ भौतिकतावाद से। इस रूप में, उसके भीतर एक अनोखा संतुलन और समन्वय दिखाई पड़ता है, जो विषमताओं को निर्मूल करने में सहायक होता है। कुण्ठा, निराशा, अनास्था जैसी वैयक्तिक मनोदशा से लेकर परिवार की कलह, टूटन जैसी सामूहिक परिणति तक जिस मानसिक तनाव में व्यक्ति जी रहा है, उसका उपचार लोकसंस्कृति की आशा और आस्था के स्वरो में है। लोकसंस्कृति के संस्कारों, त्यौहारों, उत्सवों, रीति-रिवाजों और लोकमूल्यों में व्यक्ति को व्यक्ति और परिवार से बाँधने का ऐसा प्रयत्न किया है कि मशीनी यांत्रिकता और विज्ञानी बौद्धिकता के लगातार हमले भी उसे निष्फल नहीं कर सके।

लोकसंस्कृति कर्मप्रधान शक्ति है, जो किसी भी सांस्कृतिक क्रिया में कर्मणा क्रियाशील होती है। अपनी इसी कर्माश्रयी ऊर्जा से वह संघर्ष करती है और विजातीय तत्वों से अपनी रक्षा करती है। इतिहास गवाह है कि हमारी लोकसंस्कृति ने ही हमको अब तक सुरक्षित रखा है। हर अंचल की लोकसंस्कृति में जातीयता और लोकोन्मुखता की विचित्र शक्ति होती है, जो उसे राष्ट्रीय लोकसंस्कृति या संस्कृति से जोड़ती है। यदि जातीयता को व्यापक रूप दिया जा सके तो पूरे विश्व में एक लोकसंस्कृति की संरचना हो सकती है और इस आधार पर विश्व को इन तमाम खतरों से बचाया जा सकता है। बहरहाल, इन संहारकारी और अशान्त स्थितियों में यदि कोई अहिंसक

और मानवीय उपचार संभव है, तो वह है लोकसंस्कृति का व्यापीकरण।

## सत् और पत्

सत् और पत् मध्ययुग की बुन्देली लोकभाषा के दो ऐसे शब्द हैं, जो अपने अर्थ से भी अधिक अर्थवान हैं और उनकी यह अर्थवत्ता लोक का हर आदमी समझता है। सत् का लोकप्रचलित अर्थ है सत्य, सामर्थ्य, शक्ति, सत्व, सार और भला का समन्वित आशय। अक्सर कहा जाता है कि 'आजकल देवतन में सत् नई रे गओ।' पहले सत् की परीक्षा भी ली जाती थी और परीक्षण के बहुत कठिन रूप थे। असल में सत् आया है प्राकृत सत्त से और प्राकृत सत्त की व्युत्पत्ति हुई है (1)सत्य>सच्च>सत्त (2)सत्व>सत्त (3) शक्त>सत्त से। इसीलिए सत् में सभी अर्थ समा गये हैं। इसी तरह 'पत्' में कुल के स्वाभिमान, आनबान, मर्यादा, दृढ़ता, प्रतिष्ठा, बलिदान का समन्वित अर्थ समझा जाता है। आचार्य केशव ने इनका प्रयोग अपने ग्रंथों में किया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जैसे मध्ययुगीन साहित्य के सूक्ष्म पारखी ने 'पत्' की सूक्ष्मता में न जाकर उसे 'पति' कर दिया है, जिससे वह अर्थहीन और असंगत हो गया है। मध्ययुग में 'सत्' का मतलब था सामर्थ्य और शक्ति तथा 'पत्' का राष्ट्रीयमान और प्रतिष्ठा। इस उदाहरण से मेरा तात्पर्य यह है कि लोकभाषा के शब्दों में लोकसंस्कृति के अभिप्राय चिपके हुए हैं, जिन्हें समझना भाषा की समृद्धि और सार्थकता के लिए ही नहीं, वरन् लोकसंस्कृति की सही परख के लिए भी अनिवार्य है।

यदि हम समझते हैं कि हमारी लोक संस्कृति में 'सत्' है, तो उसकी 'पत्' की रक्षा भी हमें करनी है। यह सही है कि लोकगीतों, लोकनृत्यों, लोकचित्रों आदि की प्रतिष्ठा बढ़ी है, पर वह मनोरंजन और पुरस्कार धर्मिता तक सीमित है जबकि उसे लोक की सार्थक संरचना और हितकारी परिणति तक पहुँचना है। उसे शक्ति सम्पन्न और प्रभावशाली बनना है ताकि वह राष्ट्रीय हितों की रक्षा कर सके। यह तभी संभव है, जब हम संस्कृति के इतिहास के साथ लोक संस्कृति का और साहित्य के इतिहास के साथ लोक साहित्य का इतिहास सम्मिलित कर उसे समान महत्व दें। लोककलाओं के साहित्य और इतिहास को पूरा सम्मान दें। लोकवार्ता, लोकसंस्कृति, लोकसाहित्य और लोककला को विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में उचित स्थान मिलना ही चाहिए। उनके विशिष्ट अध्ययन के लिए शोधपीठ या संस्थान तथा उन्हें जन-जन तक पहुँचाने के लिए लोकमंचों की स्थापना अनिवार्य है। वैसे तो इस सबकी व्यवस्था के लिए शासन उत्तरदायी है, पर लोकविधाओं के उत्थान की जिम्मेदारी लोक ही अपने कंधों पर ले तो अधिक उपयुक्त रहेगा। अंततः हम सब लोक हैं और लोक की 'पत्' हमें रखना है।

मधुमालती के रचयिता

## हजरत अब्दुल्लाशाह मंझन

राम सेवक गर्ग

मालवा के गौरवशाली इतिहास को साहित्य सृजन की दृष्टि से और भी गौरवान्वित करने का श्रेय यदि किसी सूफी साधक को जाता है, तो वह हैं—हजरत अब्दुल्लाशाह मंझन इब्र काजी खैरुद्दीन रह. अ.। 'गुलजारे अबरार' में उसके लेखक मोहम्मद गौसी शततारी ने, जो हजरत शाह मंझन के समकालीन थे, उनका परिचय तो लिखा है, किन्तु उनकी रचनाओं पर कोई प्रकाश नहीं डाला।<sup>1</sup> हज. के पितामह खुलासतुल उलेमा काजी ताजुद्दीन नौहवी को हजरत शेख महमूद जिन्दापोश कुरैशी इश्की का वंशज माना जाता है। शेख जिन्दापोश रह. अ. की खानकाह बल्ख में थी। जिन दिनों भारत में अशरफ दानिशवरान काजी शुहाबुद्दीन बेहरे मोवाज और काजी फखरुद्दीन रह.अ. जैसे विद्वानों की ख्याति फैली हुई थी तब हज. मंझन शाह के पितामह काजी ताजुद्दीन नौहवी रह. बल्ख से भारत आ गए।<sup>2</sup> यहाँ लखनौती नगर को उन्होंने अपना आवास बनाया। उनके पुत्र हज. काजी फैजुद्दीन का निकाह जुबेदतुल सादात काजी समाउद्दीन देहलवी की पुत्री के साथ हुआ। हज. काजी समाउद्दीन देहलवी को कुतलग खानी का पवित्र खिताब मिला हुआ था और फतवा नवीसी का मनसब प्राप्त था। हज. अब्दुल्लाशाह मंझन अपने पिता काजी खैरुद्दीन के मँझले पुत्र होने से मंझन कहलाए। मालवा में हज. शेख महमूद चिश्ती रणथम्बोरी (मृत्यु 1577) के मँझले पुत्र को भी मंझन कहा जाता था, लेकिन वे साहित्यकार मंझन के समकालीन होते हुए भी अलग हैं।<sup>3</sup> साहित्यकार सूफी साधक मंझन का जन्म कब हुआ था, 'गुलजारे अबरार' में इसका उल्लेख नहीं मिलता लेकिन, हिजरी 1001 में (1592 ई.) में मृत्यु के समय (हज. के पुत्र शेख उस्मान ने गौसी शततारी को बतलाया था कि) वे 80 वर्ष के थे। इस आधार पर कहा जा सकता है कि हज. अब्दुल्लाशाह मंझन का जन्म हिजरी 921 (1515 ई.) में हुआ रहा होगा। यानी वे 77 सौर वर्षों (या 80 कमरी सालों तक) जीवित रहे।



प्रारम्भ में हज. शाह मंझन ने ताजुल उर्फ सैय्यद ताजुद्दीन बुखारी से दीक्षा ले ली थी। हज. ताजुद्दीन बुखारी रह. मारफत और सय्यादी के लिए विख्यात साधक थे। जब सैय्यद साहब भारत में प्रवास पर थे तब वे गौसुल औलिया ग्वालियरी (हज. मोहम्मद गौस रह.) के सम्पर्क में आए। यद्यपि हज. सैय्यद को प्रायः हर देश के बुजुर्ग साधकों से खिलाफत मिली हुई थी, फिर भी गौसुल औलिया का मुरीद बनना उन्होंने अपना सौभाग्य माना। कालान्तर में इसी वजह से उन्हें शतारी सिलसिले का साधक लिखा गया। उन्होंने ही अपने मुरीद अब्दुल्लाशाह मंझन को हज. गौस का सामीप्य दिलवाया। हज. गौस की सेवा में ग्वालियर रहकर शाह मंझन ने उनकी रचना- 'जवाहिर खम्सा' का गम्भीरता से अध्ययन किया और उसमें विहित निर्देशों को अपने जीवन में उतारा। इस प्रकार ज्ञान को जीवन शैली में ढालने का प्रयास किया। साधना से प्रसन्न होकर गौसुल औलिया ने हज. मंझन को अपना खर्का खास अता फरमाया था।<sup>4</sup> उस खास खर्के में हज. गौस के वे वस्त्र थे जो उन्होंने चुनार की गुफाओं में साधना के समय पहन रखा था। उस पवित्र खर्के का अवलोकन स्वयं गौसी शतारी ने भी अपने सारंगपुर प्रवास के समय 1014 हि.(1605ई.) में मंझन के पुत्र शेख उस्मान के हाथों किया था।

हज. शाह मंझन रह. अ. को उलमा-ए-जमाना शेख अहमदी का सहपाठी और सह साधक माना जाता है। वे बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साधक व विचारक तथा लेखक थे। जिस वर्ष शेरशाह सूरी ने (मार्च 1543)<sup>5</sup> रायसेन जीतकर अपने अधीन किया और इस्लामाबाद नाम रखा उसी वर्ष हज. अब्दुल्लाशाह मंझन ने अपने पूर्वजों का लखनौती आवास छोड़ दिया और रायसेन आ गए। रायसेन में उन्हें शेखुल इस्लाम का पद, वहीं की खानकाहदारी का मंसब प्राप्त हुआ। जब रायसेन का राजनीतिक वर्चस्व कम हो गया और सरदारी अधर में फँस गई तब लूट-पाट भी मची। उसी अवसर पर शाह मंझन के असबाब के साथ उनका निजी पुस्तकालय एवं पाण्डुलिपियाँ भी लूट ली गईं। उन्हीं दिनों हज. रायसेन छोड़कर सारंगपुर चले आए। तब सारंगपुर मालवा का एक महत्वपूर्ण नगर था। हज. ने अपनी याददाश्त से कई ग्रंथों की पुनः प्रतिलिपियाँ करवाईं और उनके प्रयासों से सारंगपुर को तत्कालीन रचना धर्मिता का केन्द्र कहा जाने लगा।<sup>6</sup> अनेक संत और विद्वान वहाँ आकर रहने लगे। जब हि. सन् 986 (1578) में मुगल सम्राट अकबर मालवा आया तब किसी विशेष उद्देश्य से बहुत से सूफी संतों को भी लश्कर में आने हेतु आमंत्रित किया गया। उस समय गौसी शतारी को हज. शाह मंझन से मुलाकात और उनकी सेवा का सुअवसर प्राप्त हुआ था।

जब हज. शारीरिक दृष्टि से काफी वृद्ध हो गए तब अपनी गौशा नशीनी के लिए उन्होंने आष्टा को चुना और वहीं रहने लगे। कुछ दिनों बाद रबी-उल-अव्वल हि. सन् 1001 (1592) हज. शाह मंझन

अपने पुत्र पौत्रों और सगे सम्बंधियों से मिलने सारंगपुर आए और मिल कर वापस आष्टा चले गए। इसके कुछ दिनों बाद आष्टा में ही हजरत का स्वर्गवास हो गया। हज. शाह मंझन की रचनाओं के सांस्कृतिक महत्व और उनके जीवनकाल की घटनाओं को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा जा सका। आश्चर्य तो यह भी है कि आष्टा में हज. की मजार तक की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। सन् 1987 में सर्वेक्षण के समय कई दिनों तक प्रयास के बाद आष्टा के एक फकीर परिवार के कागज पत्रों के आधार पर खण्डहर बने मकबरे में हज. की मजार देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यह मजार इन्दौर की ओर से आष्टा जाने वाले मार्ग पर नदी के पुल से पहले पश्चिम की ओर के खेतों के बीच गुमनामी में पड़ी हुई है। स्वयं आष्टा के जागरूक नागरिक तक उससे अनभिज्ञ हैं।

अब्दुल्ला ने 'तारीख-इ-दाउदी' में व इतिहासकार कानूनगो ने 'शेरशाह' में लिखा है कि दिसम्बर 1539 के प्रारम्भ में चौसा के युद्ध में विजयी शेरशाह का बंगाल में राजतिलक किया गया।<sup>7</sup> इस प्रकार उत्तर भारत एक प्रकार से उसके अधीन हो गया। धीरे-धीरे उसने राज्य सीमाओं का विस्तार किया। इलियट बदायुनी और कानूनगो जैसे इतिहासकार एक मत से स्वीकार करते हैं कि हिजरी सन् 949 के अंत यानी मार्च 1543 ई. में शेरशाह ने रायसेन जीत लिया था।<sup>8</sup> शेरशाह ने रायसेन को इस्लामाबाद नाम दिया यह बात केवल गौसी शतारी ने ही लिखी है, किन्तु वह प्रामाणिक नहीं जान पड़ती। शेरशाह से पहले भी इस्लामाबाद नाम पूर्वी मालवा के किसी एक स्थान को प्राप्त था। मिराते सिकन्दरी के संदर्भ से यह जरूर स्पष्ट होता है कि इस्लामाबाद और होशंगाबाद की जागीरें रायसेन व विदिशा से अलग थीं। भोपाल के समीप भी इस्लामनगर अवश्य है लेकिन वह नामकरण भी बहुत बाद का है। मासिरे महमूदशाही में 1438 के आसपास के इतिहास में पूर्वी मालवा के इस्लामाबाद का उल्लेख है। यदि रायसेन को ही इस्लामाबाद मान लिया जाय यह नहीं कहा जा सकता कि वह नामकरण 1543 में शेरशाह ने किया था। तबकाते अकबरी, मिराते सिकन्दरी, मासिरे महमूदशाही आदि में इस्लामाबाद का उल्लेख इस घटना के सौ साल से भी पहले के इतिहास में मिलने लगता है।<sup>9</sup>

रायसेन विजय के बाद शेरशाह ने शेख इस्माइल शुजात खाँ को मालवा का सूबेदार बना दिया। सम्भवतः उन्हीं दिनों हज. शाह मंझन को रायसेन का शेखुल इस्लाम नियुक्त किया गया होगा।<sup>10</sup> इसी बीच 10 रबी उल अव्वल 952 हिजरी (22 मई 1545) को कालिंजर अभियान के समय शेरशाह की मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी इस्लामशाह ने शुजात खाँ को अस्थायी रूप में सूबेदार के पद से अलग कर दिया। बाद में दौलत खाँ उजियाला की अनुशंसा पर पुनः शुजात खाँ मालवा का सूबेदार बनाया गया। इस्लामशाह भी 961 हि. (1553-54) में मर गया। उसके उत्तराधिकारी मुबानिज खाँ मुहम्मद

आदिलशाह ने पूरा मालवा शुजात खाँ को सौंप दिया। नई व्यवस्था के अधीन शुजात खाँ ने अपने छोटे पुत्र मलिक मुस्तुफा को विदिशा-रायसेन का प्रशासन सौंप दिया और स्वयं अपना मुख्यालय सारंगपुर में स्थापित किया। नई व्यवस्था के तहत उज्जैन और धार माण्डू दौलत खाँ अजियाला को तथा हण्डिया व आष्टा मियाँ बयाजिदे (बाजबहादुर) को दिए गए। इसी बीच 1554-55 में ही शुजात खाँ का स्वर्गवास हो गया। इसके बाद उसके पुत्रों में वर्चस्व को लेकर संघर्ष शुरू हो गया। बाजबहादुर ने रायसेन पर धावा बोल दिया। मलिक मुस्तुफा पराजित होकर भाग गया। मुगलों के समय राजा बीरबल और हकीम अब्दुल फतेह के साथ युसुफजाई अभियान में भाग लेते समय मुस्तुफा मारा गया। यानी शेष जीवन उसने मुगल सेना में रहकर व्यतीत किया था। इसके बाद रायसेन और उसके आसपास बड़ी अव्यवस्था फैल गई। बाजबहादुर ने अपना मुख्यालय सारंगपुर बना लिया। सम्भवतः उन्हीं दिनों कभी हजरत शाह मंझन का परिवार भी सारंगपुर आ गया होगा।<sup>11</sup>

मालवा के सूफी संत हजरत मंझन की एक रचना 'मधुमालती' हिन्दी में लिखे गए प्रेमाख्यान काव्यों का नवनीत है।<sup>12</sup> प्रेम की ज्योतिःकरण में जगाए हुए, विरह में जलता हुआ साधक भावोल्लास की दशा में पहुँचता है और संसार की समस्त सत्ता का उसे विस्मरण हो जाता है। उसका अहं मिट जाता है और वह जीवन रहते ही मृत जैसा हो जाता है। संसारिक दृष्टि से यह साधक का मरण है, किन्तु सूफी दर्शन में यही फना कहलाता है। आगे चलकर नौवीं सदी हि. से फना से आगे की अवस्था को बका कहा जाने लगा। इसमें समस्त द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं और परमात्मा के साथ तादात्म्य होकर महामिलन की अवस्था आ जाती है। हिन्दू-दर्शन में जीवन मुक्तावस्था अथवा जीव की ब्राह्मी स्थिति का जो निरूपण है, सूफियों की वही 'मरजी या दशा' है। सिद्धों की सहजावस्था बौद्धों का निर्वाण और नाथों का नाथस्वरूप इसी के द्योतक हैं। सूफी प्रेमाख्यानों में प्रायः 'मरजीया' शब्द जीवन्मृतकता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु मंझन ने 'मधुमालती' में इसे सीधे मरकर जीने के अर्थ में ग्रहण किया है। उनके अनुसार प्रेम-मार्ग पर चलने के लिए अहं का त्याग और मरजीया होना आवश्यक है।<sup>13</sup> मधुमालती के छंद 334 में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि-

प्रथमहि सीस हाथ मह लेई-पाछे तेहि मारग पगु देई ॥  
विरह समुन्द अथाह अति जग जानै सब कोई ॥  
मानिक सौ ले ऊभरे जो मरजीया होइ ॥

अपने ग्रंथ 'मधुमालती' के उपसंहार में मंझन ने मरजीया अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि मरजीया को काल का भय नहीं होता तथा उसकी काया अमर होती है-

अमर न होत कोई जग हारे। मरि जो मरै तेहि मीचु न मोरे ॥

प्रेम कै आगि सही जेहि आंचा। सो जग जनमि काल गेउँ बाँचा ॥  
प्रेम सरन जेइ आप उबारा। सो न मरै काहू कर मारा ॥  
एक बार जो मरि जिउ पावै ॥ काल बहुरि, तेहि नियर न आवै ॥  
मिरतुक फल अंब्रित होइ गया। निहचै अमर ताहिकै काया ॥

स्पष्ट है कि मंझन ने भारतीय दर्शन का अध्ययन केवल दार्शनिक स्तर तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि सूफी चिन्तन के साथ उनके मनावैज्ञानिक और भावात्मक स्तर को भी समझा था। हिन्दी सूफी कवियों ने ब्रह्म तत्व का जो निरूपण किया है उस पर इस्लाम और औपनिषदिक चिन्तन का एकत्व मिलता है। 'चंदायन' में मुल्ला दाउद ने उसे जगत की सम्पूर्ण सृष्टि का स्रष्टा मानते हुए लिखा है कि उसी ने एक ज्योतिर्मय पुरुष का सृजन किया जिसका नाम मोहम्मद है, जो सारे जगत का प्रिय है। 'मृगावनी' में कुतबन ने भी उसे ही स्रष्टा कहा है जिसने मोहम्मदीय नूर को उत्पन्न किया था। लेकिन, मंझन ने इसी तथ्य को और भी सरल बनाते हुए लिखा है कि जो गुप्त ब्रह्म है वही प्रकट रूप से मोहम्मद है, यथा-

मूल मोहम्मद सब जग साखा। विधि नौ लाख मटुक सिर राखा ॥  
ओहि पटतर दूसर कोउ नाहीं। वह शरीर यह सब परछाहीं ॥  
करता गुपुत सभै पहचाना। प्रकट मोहम्मद काहु न जाना ॥  
अलख लखिया जेहि पार न कोई। रूप मुहम्मद काछें सोई ॥  
रूप का नाउँ मुहम्मद धरा। अरथ न दूसर एकै करा ॥  
ऊँचै कहीं पुकरिकै जगत सुनै सब कोई।  
परगत नाउँ मुहम्मद गुपुत सौ जानिय सोइ ॥

मधुमालती-छंद-8

मंझन ने परमात्मा के वर्णन में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए प्रथम तीन छंदों में उसे ब्रह्म शब्द से कई बार सम्बोधित किया है, एकोकारिविधाता लिखा है। हरि शब्द का प्रयोग करते हुए लिखा है कि उसके मुख से निकलने वाले आदि शब्द ओंकार के साथ वह भले-बुरे समस्त रूपों में सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है। वे स्पष्ट लिखते हैं-

अलख निरंजन करता, एक रूप बहु भेस ॥

उनके अनुसार पण्डितों, ज्ञानियों और साधक मुनिजनों ने ब्रह्म पर विचार-विमर्श जरूर किया है, किन्तु उसकी स्तुति करने में संसार का कोई भी व्यक्ति समर्थ नहीं हो सका। वे ब्रह्म को वर्णन का नहीं प्रत्युत अनुभव का विषय मानते रहे। उन्होंने लिखा है कि जो तीनों भुवनों और प्रत्येक घट में अनन्त रूपों में विलास कर रहा है, सहस्र जिह्वा से चारों युगों में गुणगान करता रहूँ तो भी मैं उसकी स्तुति नहीं कर सकता। हज. मंझन के यह उद्गार भारतीय दर्शन की परम्परा के अनुरूप हैं। वे लिखते हैं कि ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। उसके अतिरिक्त न कोई दूसरा है, न हुआ है, और न होगा-यानी-

गुप्त रहै परगट जग बेरसै सरब बियापक सोई।  
दूजा कोऊन आहै और भवा नहिं होई॥

सूफी संत मंज़न वस्तुतः एक सर्वात्मवादी विचारक थे। सर्वात्मवाद का प्रभाव जितना अधिक मंज़न पर दिखलाई देता है उतना किसी और पर नहीं। उनके अनुसार ब्रह्म जगत में व्याप्त रहता है। वही एक ब्रह्म अनेक भात से विविध रूप धारण करके जगत में व्याप्त होता है। संसार उसी का लीला-विलास है। उसी की एक ज्योति से संसार ज्योतित है। सृष्टि रूपी दर्पण में उसी परमात्मा का प्रतिबिम्ब झलकता हुआ दिखता है। उसकी समानता का अन्य कोई नहीं है।<sup>14</sup>

दूसर ना कतहूँ तुव जोरा। दरपन सिस्टि रूप मुख तोरा॥

-मधुमालती छंद-6

प्रतिबिम्बवाद अथवा अंशाशीभाव को अभिव्यक्त करते हुए मंज़न ने लिखा है-

तैं जो समुंद लहरि मैं तोरी। तैं रबि मैं जग किरन अंजोरी॥  
मोहि आपुहि जनि जाननि हारा। मैं शरीर तुइ प्रान पियारा॥  
मोहिं-तोहिं को पारै बेगराई। एक जोति दुइ भाउ दिखाई॥

-मधुमालती-118

यानी हे अल्लाह (ईश्वर)! यदि तुम समुद्र हो तो मैं तुम्हारी लहर हूँ। यदि तुम सूर्य हो तो मैं तुम्हारी किरण हूँ। मुझमें और अपने में अन्तर मत समझो। मैं शरीर हूँ तो तुम इस शरीर के प्राणतत्व हो। तुमसे मुझे कोई अलग नहीं कर सकता, क्योंकि एक ही ज्योति है जो मुझमें और तुममें दिखाई दे रही है।<sup>15</sup> वे और भी आगे लिखते हैं कि-

‘औ मैं तुइ दुइ एक सरीरा। दुइ माटी सानी एक नीरा।  
एक बारी दुइ बहै पनारी। एक दिया दुइ घर उजियारी॥  
एक जीव दुइ घर संचारा। एक अगिनि दुइ ठाएँ बारा।

अन्तरंग साधना यानी योग मार्ग को भी सूफी संतों ने अपना लिया था। नाथपंथी मानते हैं कि परमतत्व सृष्टि करने की इच्छा से दो रूपों यानी शिव और शक्ति (मैटर एण्ड एनर्जी अथवा पुरुष व प्रकृति) के रूपों से प्रकट होता है। प्रथम तत्व पाँच अवस्थाओं से अग्रसर होता हुआ परमात्मा या सगुण शिव बनता है, जबकि द्वितीय तत्व (शक्ति) पाँच अवस्थाओं से गुजरती हुई कुण्डलिनी के रूप में प्रकट होती है। ये तत्व जिस प्रकार से ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, उसी प्रकार लघुरूप से इस पिण्ड शरीर में भी विद्यमान है।<sup>16</sup> संसार में जो कुछ पिण्ड में है, वह वस्तुतः उसी प्रक्रिया से गुजरता हुआ बना है जिस प्रक्रिया से ब्रह्माण्ड बना है। मंज़न ने अन्तरंग साधना द्वारा परमानन्द प्राप्त करने की बात बड़ी ही कुशलता से इस प्रकार कही है कि-

सत कहौं सत जानहु सत साथी नौ खण्ड।  
मानुस जौं सत सेऊँ रहै पिण्ड चढ़े ब्रह्माण्ड॥<sup>17</sup>

-मधुमालती-छंद 189

मंज़न ने तो मधुमालती में सूफी साधना के अंतर्गत योगियों के अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने श्वास को ऊपर खींचकर प्राणायाम की साधना करने, अनाहत नाद सुनने और सर्वशून्य अवस्था (कबिलास) या शून्य मंदिर की प्राप्ति तक का वर्णन किया है। उदाहरण के रूप में उन्होंने अपने पीर शेख मुहम्मद गौस रह. अ. की साधना का उल्लेख करते हुए उनके बारह वर्ष तक तपस्या करने, अपानवायु को साधने और समाधि लगाने का विवरण इस प्रकार दिया है कि-

मन मत्तंग मारि बस कीया-ज्ञान महारस अंब्रित पीया॥  
साहस उदित अपान साधिकै लीन्हि सिद्धि अवराधि।  
बारह बरिख रहे बन परबत, लाय जो ब्रह्म समाधि॥

मधुमालती-छंद-21

शिव और शक्ति के मिलन को प्रेमी-प्रेमिका का मिलन यानी अद्वय होने के भाव को योगियों के समान मंज़न ने भी स्वीकारा है और लिखा है कि-

सांते पियत रूप चख दुहूँ। रबि ससि दुवौ एक भै किहूँ॥

सूफी संतों ने स्वर्गपथ, स्वर्ग, कबिलास, कैलाश अथवा ब्रह्माण्ड को अत्यन्त अगम और अबूझ कहा है। वहीं प्रेमी, प्रेयसी अथवा प्रियतम का निवास है। मंज़न ने मधुमालती के निवास की दुर्गमता का वर्णन करते हुए कहा है कि वहाँ चारों ओर अगम दरवाजे लगे हुए हैं, आस-पास बहुत से पहरेदार हैं। उस सप्तखण्डी भँवरदार महल में वायु तक का संचरण नहीं होता। यदि वहाँ पहुँचा जा सके तो सुखशाला में सुरत-रस की प्राप्ति होती है। वे लिखते हैं-

अगम पौरि चारहुँ दिसि लागहिं।  
आस-पास बहु पहरू जागहिं॥  
भँवरी सात मंदील कै जागहिं बीर अपार।  
तहँ कैसे तुम आयहु जहँ न समीर संचार॥

मधुमालती छंद 102

प्रारम्भिक सूफियों का ‘कबिलास’ शब्द अस्पष्ट था। लेकिन मंज़न ने उसकी योगपरक व्याख्या लिख दी है। हजरत मंज़न ने योगसाधना द्वारा नाद सुनने और हृदय में ज्ञान ज्योति प्रज्वलित करने का उल्लेख किया है, और स्पष्ट लिखा है कि उसी ज्योति में कबिलास है। उसे बिरला साधक ही भोग पाता है। वह शून्य में स्थित है और वहाँ अवाध विलास है। सूफी कवि मंज़न ने अपनी रचना प्रेमकाव्य ‘मधुमालती’ के प्रारम्भ में ही साधना सम्बंधी तत्त्वज्ञान को स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते हैं कि मानसिक चेतना, बुद्धि, ज्ञान और शारीरिक

बोध को छोड़कर ध्यान लगाने और समाधि ग्रहण करने पर आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है। उसी में साधक अपने आपको खो देता है और उसे निर्गुण, निरंजन और शून्य की प्राप्ति होती है। जहाँ ज्ञान के लिए भी अज्ञान है, वहीं सहज समाधि लगाना श्रेयस्कर है जिससे स्वयमेव आत्मबोध हो सके। इन प्रतीकों के माध्यम से हज. मंज़नशाह ने साधना के मूलस्रोतों की ओर स्पष्ट संकेत दे दिया है। वे लिखते हैं कि-

*परिहरि सुद्धि, बुद्धि औ ग्याना, क्या बेवर जित लावाहिं ध्याना।  
तौ समाधि लौ लागै जहवाँ, आप अपान पाव तू तहवाँ।  
निरगुन जहाँ निरंजन सूना, तहाँ आप सों आप बिहूना।  
ज्ञान पार जहवाँ अज्ञाना, तहाँ आपु सेउँ आपु अयाना।  
सहज समाधि लासैं तहाँ, आपु से आपु पास सुधि जहाँ।*

-मधुमालती-छंद-33

उक्त विवेचना के पश्चात् एक प्रश्न उठता है कि सूफी चिन्तन के विकास में मंज़न का सोच किससे प्रभावित है? यदि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो हज. अलगजाली (मृत्यु 1111 ई.) के बाद जिसने सूफी मत की इस्लाम सम्मत व्याख्या की थी, सूफी चिन्तन में हज. मंसूर हल्लाज रह. अ. और उनके अनुयायियों की एक परम्परा दिखलाई पड़ती है जिनपर भारतीय चिन्तन का प्रभाव पड़ा था। दूसरी ओर ऐसे भी विचारक हुए जो गजाली की परम्परा में आते हैं और सम्पूर्ण सूफी साधना को कुरान पाक और हदीस की परिधि से बाहर नहीं जाने देते। हज. मंसूर हल्लाज की परम्परा वाले चिन्तकों में इब्नुल अरबी (मृत्यु 1240 ई.) का प्रमुख स्थान है। हज. इब्नुल अरबी स्पेन के मूल निवासी थे और वहाँ से मक्का चले आए थे। लगभग चालीस वर्षों तक वे सय्याही करते रहे। दमिश्क और बगदाद में खूब घूमे। वे तसव्वुफ के सशक्त अद्वैती विचारक थे। उन्होंने अपनी कृति 'फुतुहात-ए-मक्किया' में वहदतुल वजूद सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उन्होंने हक (सृष्टा) और खल्क (सृष्टि) में अभेद माना। उनके अनुसार ब्रह्म सांसारिक अनेकताओं के पीछे एकत्व और सभी नश्वर दृश्यों के पीछे एकमेव सत्य है। वे मानते थे कि परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है किसी और वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है। यानी सभी वस्तुओं का सारतत्त्व एक ही है।

हज. इब्नुल अरबी के अनुसार मानव और प्रकृति दर्पण के समान हैं जिनमें स्वयं ब्रह्म का प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है। ब्रह्म सृष्टि के कण-कण में अपने आपको अभिव्यक्त करता है। मनुष्य और ब्रह्म के सम्बंध को निरूपित करते हुए वे मानते थे कि मनुष्य ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप है और ब्रह्म मानव की रूह यानी अन्तश्चेतना है। हज. इब्नुल अरबी को 'वहदतुल वजूद' के सिद्धांत को इस्लामी 'तौहीद' के सिद्धान्त का प्रसार माना जाता है। तौहीद भी कहती है कि केवल एक परमात्मा (अल्लाह) का अस्तित्व है। लेकिन 'वहदतुल वजूद'

उसे यूँ कहता है कि एक परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई अस्तित्व ही नहीं है। साथ ही वह हृदय में अनुभव करने की बात है औ उसे तर्क द्वारा नहीं जाना जा सकता। इसके लिए ज्ञान के उच्च धरातल जौक (यानी प्रज्ञात्मक स्वानुभव) की आवश्यकता होती है। यही है अरबी का सर्वात्मवाद। इस सिद्धान्त की व्यावहारिक उपलब्धि यह रही कि ब्रह्म की उपासना अनेक रूपों में हो सकती है और सभी धर्मों में सत्य निहित है। इब्नुल अरबी मानता है कि जो तत्त्वज्ञानी है वे अन्य धर्मों की निन्दा नहीं करते। वे मानते हैं कि जो मर्म को समझता है वह दूसरों के विश्वासों में व्याघात नहीं डालता, प्रत्युत प्रत्येक रूप एवं प्रत्येक विश्वास में परमात्मा का दर्शन करता है। हजरत मंज़न इसी भावना के पोषक संत साहित्यकार थे। हजरत मुहीउद्दीन बिन अरबी की विचारधारा के प्रबल पक्षधर थे। ऐसे उदाहरणों के आधार पर ही मौलाना सैय्यद सुलेमान नदवी ने अपने ग्रंथ 'अरब और भारत के सम्बंध' (पृष्ठ-203) में स्वीकार किया है कि 'इसमें कोई संदेह नहीं कि मुसलमान सूफियों पर, भारत में आने के बाद, हिन्दू वेदान्तियों का प्रभाव पड़ा।'

मंज़न ने सूफी सिद्धांतों को उत्तरी भारत की लोकभाषा अवधी के माध्यम से लोककथानक को लेकर जो सरलतम अभिव्यक्ति दी वह कल्पना से परे है। अवधी में काव्य रचना शैली यानी चौपाइयों और दोहों के साथ साहित्य सृजन में वे जायसी और तुलसी के पूर्वगामी पथ-प्रदर्शक हैं। उनकी भाषा में अवधी का मूल स्वरूप सुरक्षित है। यद्यपि हजरत मंज़न पिंगल या छंद शास्त्र के ज्ञाता नहीं थे, और उन्होंने पाँच चौपाई पंक्तियों के बाद एक दोहा रखा है। जायसी ने सात चौपाइयों के बाद दोहा लिखा। तुलसी ने छंद शास्त्र के अनुरूप आठ चौपाइयों के बाद दोहा रखकर संशोधन किया। किन्तु, इससे मंज़न की लोक भोग्यता पर कोई आँच नहीं आई। उनकी मधुमालती कथावस्तु भी पूर्णतया लौकिक है। उसमें कनेसर के राजकुमार मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम का वर्णन है। वह कहानी कुतबन की मृगावती से कहीं अधिक आकर्षक और भावात्मक है, कल्पना से परिपूर्ण है। पूरी कथा में वर्णनात्मकता का अंश अधिक है तथा प्रेम के चित्रण में विरह को विशेष महत्ता प्रदान की गई है। वास्तव में विरह ही मनुष्य के लिए ईश्वर को समझने का महत्वपूर्ण साधन है। सूफी इसी की दसों अवस्थाओं में माशूकी मजहब को जीता है।<sup>18</sup> मालवा में इस चिन्तन को स्वीकार कर लिया गया था। हि. 984 (1576) में धार की जामा मस्जिद में जुम्मे के दिन हज. शेख सद्रजहाँ मुरीद हज. शेख गरीबुल्ला और हज. शेख जकरिया कादरी की चर्चाओं में यही बतलाया गया था कि 'माशूकी मजहब का ढंग इस तरह पर है कि पहले एक झलक दिखाकर किसी मुब्तिला को मजा चखा देते हैं और फिर बेन्याजी करके उसके सीने में शौक की परवरिश करते हैं। उस वक्त में आशिक जबान हाल से

गाता है।' यह हाल ही भावाविष्ट अवस्था है जिसमें साधक को एक ब्रह्म (खुदा) के अतिरिक्त अन्य का भान नहीं होता।<sup>19</sup>

सूफी संत और साहित्यकार अब्दुल्ला शाह मंज़न के परिचय लेखन में कई दृष्टियों से उपेक्षा सी हुई है। गौसी शतारी ने उनका परिचय लिखते हुए भारत भर के तत्कालीन महान शतारी साधकों के साथ उनका भी नाम अवश्य जोड़ा है, किन्तु उनकी साहित्य साधना पर विशेष प्रकाश नहीं डाला। इसी तरह हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वालों ने उन्हें प्रेमकाव्य का रचयिता कहकर इतिश्री कर ली है। नए परिचय संकलनों में से यदि जनाब मुख्तार अहमद खान के 'बजुर्गानदीन-ए-मालवा' को लिया जाय तो उन्होंने गौसी शतारी द्वारा सारंगपुर का संत कहने के बजाय हजरत को आष्टा के संतों के साथ वर्गीकृत कर दिया है।<sup>20</sup> हज. गौसी शतारी ने शतारिया सिलसिले का वर्णन करते हुए लिखा है जब हजरत अब्दुल्ला शतारी का स्वर्गवास हो गया तब खर्का खिलाफत क्रमशः शेख मोहम्मद औला, उनके पुत्र शेख अबुल फतह हिदायतुल्लाह सरमस्त, शेख जहूर हाजी हमीद हसूरी तथा हजरत शेख मोहम्मद गौस ग्वालियरी को प्राप्त हुआ। हजरत मंज़न उन्हें गौस ग्वालियरी के शिष्य थे। उनके समय इस शतारी

सिलसिले में अनेक महान साधक हुए, जिनमें आगरा के शेख नूरुद्दीन जियाउल्ला, बुरहानपुर के शेख अकमलउद्दीन बुरहान, बड़ौदा के शेख सदुद्दीन मोहम्मद शम्स जाकिर व शेख हबीब शतारी, अहमदाबाद के शेख अवेस व शेख इस्माइल, सम्भल के शेख मोहम्मद आशिक, अजमेर के शेख मो. अबुल फतेह नागौरी, जौनपुर के शेख हाफिज व शेख बुद्धन, बदौली के शेखवली शतारी व शेखफिदन, अन्यत्र सरहिन्द आदि के बहाउद्दीन जकरिया और शेख हाजी इब्र हाजी शेख जलाल, बदौली में शेख जीवा अब्दुल हमीद, बीजापुर में शेख शम्सुद्दीन शिराजी, उज्जैन में शेख अहमद मुतवक़ल व शेख रह. अ. मुख्य रहे हैं। सारंगपुर के सूफी संत हजरत शेख उमर का परिचय भी मानो हजरत मंज़न के परिचय के प्रभामण्डल में विलीन हो चुका है। शेख उमर के सम्बंध में एक सम्भावना को जरूर तलाशा जा सकता है कि वे रानी रूपमती पर फारसी दीवान यानी प्रेम कथा लिखने वाले अहमद-अल-उमरी ही तो नहीं हैं जिन्होंने 1599 में बाजबहादुर के जनानखाने के इंचार्ज सुलेमान खाँ के बतलाने पर अंतरंग प्रेमकथा प्रसंग को संजोया हो? <sup>21</sup> यह विषय स्वतंत्र लेख के लिए उपयुक्त है।

## संदर्भ

1. गौसी शतारी कृत गुलजारे अबरार-पृ. 296 इत्यादि का उर्दू अनुवाद अजकारे अबरार, मुख्तार अहमद खान बुजुर्गान-दीन-ए-मालवा पृ. 125-126
2. मौलवी मोहम्मद फसीह-उद-दीन ने अपने ग्रंथ 'द शर्की मान्यूमेन्ट्स ऑफ जौनपुर' की प्रस्तावना में हि. 794 से 892 के मध्य यानी हज. मंज़न के पिता और पितामह के समकालीन उत्तरी भारत के महान विद्वानों, विचारकों और सूफी साधकों में हजरत शिहाबुद्दीन मलिक-उल-उलेमा, मेहदीवाद के संस्थापक सैय्यद मोहम्मद, मुल्ला-सदरुद्दीन चिराग-इ-हिन्द, मौलाना सादुद्दीन आफताबे हिन्द, हजरत मोहम्मद ईसा बिन ताज और हज. सद्देजहाँ अजमल जैसों को भी गिना है-देखिए पृष्ठ-2-3
3. गौसी शतारी-गुलजारे अबरार-पृ. 230-31, मुख्तार अहमद 'बुजुर्गान-दीन-ए-मालवा' पृ. 84-85
4. सूफी साधक हज. मुहम्मद गौस के परिचय और रचनाओं के विस्तृत विवरण के लिए देखिए हरिहर निवास द्विवेदी कृत 'ग्वालियर के तोमर'
5. रायसेन विजय के समय पहले दस वर्ष पूर्व रानी दुर्गावती, लक्ष्मण और ताज खाँ की सलाह पर एक जौहर हुआ, मिराते सिकन्दरी, पृ. 287 में वह तिथि रमजान 938 (1532) दी हुई है। कमी सरिअट ने वह तिथि 6 मई 1532 मानी है। हि. 938 की शुरूआत मंगलवार 15 अगस्त 1531 से हुई थी और शुक्रवार 2 अगस्त 1532 तक वह वर्ष चला था अतः वह तिथि शव्वाल के प्रारम्भ या रमजान की समाप्ति के आसपास की होनी चाहिए। दूसरी बार मार्च 1543 में जब शेरशाह ने रायसेन जीता तब भी राजपूतों ने जौहर किया था। कानूनगो ने 'शेरशाह' पृ. 297 में इसका विशद विवरण लिखा है।
6. मंज़न कृत 'मधुमालती' नामक प्रेमकाव्य (रामपुर वाली प्रति के आधार पर) रचना 1545 ई. की यानी 952 हि. की मानी जाती है। लेकिन, पं. रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित 'जायसी ग्रंथावली' ना.प्र. सभा, पृ. 107-8 पर उनकी यानी मलिक मुहम्मद जायसी की पदुमावती की रचना-(सन नौ सौ सैंतालिस अहा। कथा अरम्भ बेन कवि कहा- ) हि. 947 (1533) बतलाई गई है। उस 1533 वाली रचना में जायसी ने अपने पूर्ववर्ती प्रेम काव्यों की चर्चा करते हुए मधुमालती का भी उल्लेख किया है। स्पष्टतः मंज़न ने 1533 से पहले अपना प्रेमकाव्य लिख लिया होगा। उक्त उल्लेख इस प्रकार है-

विक्रम धंसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा ॥  
मधुपाछ मुगधावति लागी। गगनपुर होइगा बैरागी ॥  
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगवति कहँ जोगी भयऊ ॥  
साधे कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू ॥  
प्रेमावति कहँ सुरपुर साधा। उषा लागि अनिरूध वर माँगा ॥

आश्चर्य तो यह है कि डॉ. रामकुमार वर्मा ने भी अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में पृ. 307 व पृ. 310 पादटीप-1 में आँख मूँदकर इस गलती को मान लिया है। सम्भव है रामपुर वाली प्रति सारंगपुर में बैठकर मूल प्रति के लूट लिए जाने के बाद लिखी गई होगी।

7. हज. मंज़न का मूल स्थान लखनौती भी बंगाल में ही था। सम्भव है शेरशाह के पिता के समय से ही यह परिवार राज्याश्रय प्राप्त रहा है। मृगावती के रचयिता कुतुबन भी शेरशाह के पिता हुसैनशाह के समकालीन थे। स्वयं जायसी को भी शेरशाह का आश्रय प्राप्त था। देखिए डॉ. रामकुमार वर्मा-हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास 'चतुर्थ संस्करण पृ. 307-308
8. हिजरी सन 949 सोमवार 17 अप्रैल 1543 से शुरू होकर गुरुवार 5 अप्रैल 1543 तक रहा।
9. इस्लामाबाद के विवरण के लिए देखिए एस.एन. डे कृत मेडिवल मालवा, पृ. 96-97, 99, 100 व 319 तथा उन्हीं पृष्ठों पर तत्सम्बंधित पाद टिप्पणियाँ।
10. शेख-उल-इस्लाम एक महत्वपूर्ण पद था, हजरत चैन लाद र.अ. जैसे लोग इस पद पर रहे हैं। देखिए डे-मेडि. मालवा, पृ. 84 मंज़ू नामक एक गुजराती संगीतकार भी मालवा में रहा है-देखिए वही पृ. 326
11. विशेष विवरण के लिए देखिए-डे-मेडि. मालवा, पृ. 335-407
12. डॉ. माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'मधुमालती' को आधार मानकर संदर्भ दिए गए हैं।
13. फना और बका की अवस्था का तर्करूप विवेचन डॉ. कन्हैया सिंह कृत 'सूफीमत' पृ. 53-66 में संकलित है। निकोलसन ने 'आइडिया ऑफ परसनाल्टी इन सूफिज्म पृ. 18 पर फना की चार अवस्थाएँ मानी हैं जिनमें अंतिम अवस्था 'फना-अल फना' ही बका है। भारतीय सूफी उसी को बका या मरजीया मानते रहे हैं। मालवा में मंज़न से पूर्व हजरत मखदूम काजी इसहाक रह. ने यही बात इन शब्दों में कही थी कि-'खुदा के दोस्त हकीकी हयात से जिन्दगी पाए हुए हैं। उनको मौत से किसी किस्म का नुकसान नहीं पहुँचता और जब सूरत जिस्मिया हवस हरकत से बेकार हो जाती है, और यह गोया एक मकान से दूसरे मकान को इत्तेकाल करना है, तब भी थिस्ल जिन्दों के रहते हैं।' देखिए गुलजारे अबरार से उद्धृत मुखार अहमद की पुस्तक 'बुजुर्गान-दीन-ए-मालवा'-पृ. 60 यही उपनिषदों की जीवन मुक्त या ब्राह्मी स्थिति है। कठोपनिषद में यही बात इस प्रकार लिखी गई है कि-

*यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्चिता ।  
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्पन्न ब्रह्म समश्नुते ॥*

14. प्रो. एम.एम. शरीफ ने 'हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम फिलासफी' पृ. 400-404 में इब्नुल अरबी के मत की ऐसी ही व्याख्या की है कि-वह एक ही (खुदा) अपने को अनेक रूपों में अभिव्यक्त करता है, जैसे कोई वस्तु विभिन्न दर्पणों में अभिव्यक्त होती है। वह एक प्रकाशपुञ्ज है जिससे प्रकाश की असंख्य किरणें फूटती हैं, वह उस शक्तिमान समुद्र के समान है जिसकी सतह पर असंख्य उर्मिया प्रकट और लीन हुआ करती हैं। सूफी कवि जलालुद्दीन रूमी ने भी इसी प्रतिबिम्ब भाव को प्रकट करते हुए कहा है कि यह संसार ईश्वर का विशुद्ध और स्वच्छ दर्पण है जिसे वे आँखें देख पाती हैं जो अपने अभ्यंतर बादलों से मुक्त हो जाती हैं।

15. अखरावट-पृ. 368 में जायसी ने भी ऐसे ही भाव लिखे हैं-

*अहै सो कड़वा अहै सो मीठा । अहै सो आनिल अहै सो सीठा ॥  
वै आपुहिं कह सब मह मेला । रहै सो सब महुँ खेलै खेला ॥  
बहै दुऊ मिलि एकै भयऊ । बात करत दूसर होई गयऊ ॥  
जो किछु है सो है सब, ओहि बिजु नाहिन कोई ॥  
जो मन चाहा सो किया, जो चाहै सो होइ ॥*

16. गोरखवानी, पृ. 18 में यही बात इस प्रकार कही गई है-

*यहु मन सकती यहु मन सीव,  
यहु मन पाँच तत्व का जीव ।  
यहु मन ले जै उनमन रहै,  
तौ तीन लोक की बातां कहै ॥*

17. मलिक मुहम्मद जायसी ने भी पद्मावत में यही विचार इन शब्दों में व्यक्त किए हैं-

*नवौ खण्ड नव पौरी, औ तहँ वज्र किवार ।  
चार बसेरे सों चढै सत सों उतरै पार ॥  
नव पौरी पर दसवँ दुआरा । तेहि पर बाज राज घरियारा ॥  
चौदह भुवन जो तर उपराहीं । ते सब मानुष के घट माहीं ॥  
तथा- नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा ।  
दसवँ दुवार गुपुत एक ताका । अगम चढाव बाद सुठि बांका ॥*

18. विरह की दस अवस्थाओं का सार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की विरहिणी नायिका वर्णन से सम्बंधित निम्नांकित पंक्तियों में प्राप्त है-  
छरी सी छकी सी जड़ भई सी विकी सी सो तौ,  
हरी सी जकी सी सौ तौं सबही घरी रहै,  
बोले ते न बोलै दूग खोलै न हिंडोले बैठिं,  
उझकि-उझकि रोवै जीवति मरी रहै,  
हरीचन्द्र औरौ घबरात समुझाए वह,  
तौलौं सुख पावै जौ लौं मुरछि परी रहै ॥
19. मुख्तार अहमद-‘बुजुर्गान दीन-ए-मालवा,’ पृ. 38-39
20. देखिए वही पृ. 86 (जो गुलजारे अबरार के पृष्ठ 234 तथा 236 से उद्धृत है) की अंतिम पंक्तियों में शेख मंज़न और शेख उमर को सारंगपुर का संत माना गया है, किन्तु पृष्ठ 125-26 पर (जिसे गुलजारे अबरार के पृ. 296 पर आधारित माना गया है) हजरत शाह मंज़न को आष्टा के बुजुर्गों के साथ वर्गीकृत किया गया है ऐसा लगता है। जहाँ हजरत का परिचय समाप्त हुआ था (यानी विसाल हुआ था) उन्हें वहीं का संत मान लिया गया है।
21. नवल किशोर प्रेस, लखनऊ ने लिथोग्राफ रूप से प्रकाशित मोतमिद खाँ द्वारा लिखित ‘इकबाल नामाए जहाँगीरी’ के पृष्ठ 167 पर एक रोचक संदर्भ है कि आयम खाँ, मुगल सेनापति ने जब बाजबहादुर को सारंगपुर में पराजित कर दिया तब उसके मन में रूपमती को पाने की लालसा तीव्र हो गई रूपमती को कुछ चोटें लगी हुई थीं अतः उसने प्रार्थना की कि उसे शेख उमर के परिवार के साथ रख दिया जाय ताकि वह स्वास्थ्य लाभ ले सके। रूपमती के मन में शेख उमर के लिए असीम आदर भाव था। अल उमरी के दीवान में ऐसा कोई उल्लेख जरूर नहीं है और वह रूपमती की मृत्यु माण्डू में होना बतलाता है। वैसे अहमद अल-उमरी का उद्देश्य प्रेम कथानक लिखना था, न कि इतिहास। अतः ऐसे तथ्यों के लिए उसके पास पृष्ठ नहीं थे। देखिए-उपेन्द्रनाथ डे-मेडिवल मालवा, पृ. 341, पादटीप-4 तथा क्रम्पकृत अल उमरी के दीवान पर आधारित ‘द लेडी ऑफ द लोटस-में यत्र-तत्र प्राप्त अहमद अल-उमरी तुर्कमान का परिचय।’



# कुमाउनी लोकगीत : गौरा-महेश्वर

डॉ. देवसिंह पोखरिया

भारतीय लोकमानस ने प्राचीनकाल से ही शिव और शक्ति के विविध अवदानों की कल्पना कर साहित्य के लिखित और वाचिक रूपों और कलाओं में उन्हें भिन्न-भिन्न रूपों में रूपायित किया है। साहित्य के ये लिखित रूप वैदिक और पुराण काल के अवदानों के रूप में सम्मुख आए, पर इनसे इतर वाचिक अवदान के तंतु भारत की विभिन्न लोक भाषाओं और बोलियों में प्रसारित होते गए और तद्-तद् लोक साहित्यों में स्थान पाते गये। लोकमानस में गौरा-महेश्वर के उदात्त पौराणिक चरित्रों को अपने दैनिक जीवन के सुख-दुखों और लोक-रीतियों के अनुरूप ढाल लिया।

उत्तर भारत के कश्मीर, हिमाचल, उत्तरांचल और नेपाल के लोकसाहित्यों में गौरा-महेश्वर का चित्रण पर्वतीय क्षेत्र के सामान्य नारी और नर के रूप में किया गया है। उत्तरांचल के कुमाऊँ क्षेत्र में 'आठूँ' पर्व के अवसर पर 'गौरा-महेश्वर' के गीत गाये जाते हैं। इनमें प्रबंधात्मकता भी रहती है। अतः इन गीतों को 'लोकगाथा' की श्रेणी में रखा जा सकता है।

गौरा-महेश्वर की यह गाथा 'आठूँ' में गायी जाती है। इस गाथा की गायिकाएँ कुमाऊँ की महिलाएँ हैं। इनमें गौरा और महेश्वर को सामान्य पर्वतीय गोप-गोपी के रूप में चित्रित किया गया है। नदी के किनारे गौरा गाये चराती हैं। महेश्वर गुसाई बकरियाँ चराते हैं। दोनों की भेंट होती है। महेश्वर गौरा का परिचय पूछते हैं और कहते हैं कि क्या गौरा उनकी पत्नी बनना स्वीकार करेगी? गौरा सीधा सपाट उत्तर देते हुए कहती है- 'यदि माता-पिता चाहेंगे, तो अवश्य मैं आपके प्रस्ताव को स्वीकार करूँगी।' गौरा अपने पिता हिमालय और माँ मैनावती से बात करने को कहती है और कहती है कि तुम योगी वेश धारणकर हमारे घर आना। महेश्वर योगी वेश धारणकर गौरा के घर पहुँचते हैं और भिक्षा माँगते हैं।

मैनावती बनी गौरा जोगी महेश्वर को सोना-चाँदी आदि अनेक प्रकार की भिक्षा लेकर चले जाने को कहती है। महेश्वर कन्या की भिक्षा माँगते हैं। मैना उसे दरिद्र धूसर जोगी बताते हुए कहती है कि तुम किस मुँह से कन्या की भिक्षा माँगते हो? महेश्वर अपने को ईश्वर के रूप



में प्रदर्शित करते हैं। मैना बनी गौरा उन्हें बताती है कि नदी के किनारे जिस ग्वाली से तुम्हारी भेंट हुई, वह मैं ही हूँ और वह महेश्वर को स्वामी रूप में वरण करती है। गौरा-महेश्वर का ब्याह होना किसी ने न जाना। भादौ माह में मंगलवार के दिन लौली गौरा की बारात आई। लौली गौरा जिस-जिस मार्ग से गई सर्वत्र उजास छा गया। फिर गौरा अपने मायके आई। महेश्वर भी पता पूछते-पूछते उसके पीछे चले आये। महेश्वर गौरा के लिए आभूषण गढ़ लाए। नाचो-नाचो गौरा दीदी महेश्वर आये हैं। नाचते-नाचते गौरा-महेश्वर कहते हैं-‘आमा, बूबू! सब भले हुए रहना, अब हम चलते हैं।’

\*सिकर धूरा ठंडा पाणी में सर गुसैं उपज्यो।  
गंगा टाटू बलू बोट लौलि गमारा उपजी।  
नदी किनार लौलि गमारा गावड़ी रे चरूँछि।  
बार बरस की लौलि गमारा गावड़ी रे चरूँछि।  
फूल पैरी रूँछि गमार देबी दूबो टूडि खाँछि।  
बलुवा चाटँछी तपसी बाली गावड़ी रे चरूँछि।  
धरती की धाप दिबेर वाली सूरीज रे जुहार।

वारी भटी मैसर गुसैं जुलफि रे कोरँछ।  
वारी भटी मैसर गुसैं बाकरा रे चरूँछ।  
जाना-जाना मैसर गुसैं नंदी का किनार।  
पारी भटी की बालि कनिया चेली छै कि बुआरी।  
कैकी छै तू चेली बेटी कैका गौवा चरूँछी।  
कैकी चेली नैं कैकी ब्वारी में छूँ क्वारि कनियाँ।  
तुमि जति बालि कनिया हमार रे आली कि।  
बाबा जी का दियाँ बटी क्या लागी नि मैं ऊँलो।  
बतौ बतौ बालि हो कन्या त्यारा बाबु को नाम।  
हिमांचल बाबा म्यारा मायंडि मैनावती।  
कौ बाटो झालो देव केदार को तेरा बाबु का घर।  
त्यारा बाबुक घर अग्याड़ी क्याको होलो निसान।  
भूमी बाटो बाबा का घर दैनु बाटो देव केदार।  
म्यारा बाबाक घर अग्याड़ी सिरखंड को रूख।  
म्यारा बाबाक घर अग्याड़ी चौपाती चौराड़ी।  
म्यारा बाबाक घर अग्याड़ी फलू फूलों को बगैँचा।  
रूपा की खुटकूणी होली सुनू को लेसन।  
सुनूँ को अटकन होलो सुनू को पटकन।  
मेख मंडल बाबु हमार धरती रे मायेडि।  
काका हवाला काला पहाड़ काकी स्याता पहाड़।  
राता पहाड़ बुबू म्यारा आमा कैला पहाड़।  
ले सनी में ठाड़ो होये अलख जगाये।  
हात समै जोगिया ले तिमुरा को सोटा  
कोखी में समाई जोगी बगम्बरी छाला।

सिर पैरा जोगिया ले बभूतै का ग्वाला।  
कान में धरिछ जोगी झोली रे चिमटा।  
जाना जाना मैसर गुसैं बाबा ज्यू का घर।  
बाबा ज्यू का मोल थें गुसैं अलख जगायो।  
दीय दीय मैना माई हमन भिच्या दीय।  
छोड़-छोड़ जोगी छोड़ भिच्या ल्यायूँ छोड़।  
क्याकी भिच्या ल्याई माई क्याकी भिच्या छोड़ूँ।  
एक डाली सुनू ल्यायूँ एक डाली रूपो।  
तेरो जसो सुनू रूपो म्यारा घर छनेछ।  
आब ल्यान मैना माई साली ब्याला चाँल।  
त्यारा जसा साली चाँल म्यारा घर छनेछ।  
क्याकी भिच्या माँगछै जोगी क्याकी भिच्या घूँलो।  
माँगनि भिच्या तुमार घर दिया हो माई भिच्या।  
तुमार घर बालि कनियाँ हमन भिच्या दिय।  
धुसरो फुसरो जोगी बड़ो भिच्या को आड़ी।  
पैतड़ि धेकूँ जोगी त्यारा फटेल ले चिरीयाँ।  
नङ्जोलि धेकूँ जोगी त्यारा निखाने का जसा।  
कामला की कमर ज्योड़ी बुदाला की धोती।  
कमर ज्योड़ी त्वे धाकड़ा की लिखैलिखा का भार।  
ख्वार में धेकूँ त्वे धकड़ा को छारै छार को भार।  
त्वे जोगी का दिन हैत सूरजि का घूँलो।  
सूरिजै का देली माई जलै मारी देलो।  
त्वे जोगी का दिना है त चनर्मा का घूँलो।  
चनर्मा का देली माई रात को हितनँ।  
आरी ले चिरली माई पाप लागी झालो।  
त्व जोगी का दिना है त गड बगैँ घूँलो।  
ईश्वर को पूत हूँलो मैई महेश्वर।  
ईश्वर को पूत छतऽ जोगी रूप छाड़।  
लेसनी में ठाड़ जोगी ल जोगी रूप छाड़ो।  
जोगी रूप छाड़ो जोगी ले झकमक भैछ।  
खुटा हिटी किलै घूँलो ख्वारा हिटी घूँलो।  
त्यार मन पड़ीं क्वारि कनिया ग्वालि मैई हूँलो।

●  
गैवरा मैसर ब्याई हुना कैले ले नी जाणी।  
भदऊ मैना मंगल बार लौली की बरियात।  
भियाँ भात नैं रूख पात नैं लौली की बरियात।  
बाग में सवार हवे बेर छुरीमल आयान।  
स्यापै की सवारी मैत खंडैनाथ आयान।  
काली घोड़ी में बसी बेर काला सैम आयान।  
धौली घोड़ी में बसी बेर मलैनाथ आयान।  
डाणी डोला चड़ी बेर जैन्ती मैया आयान।

गमरा मेंसर ब्याई हुन फागमौनि ले जाणी ।  
 कारै पूजी लौलि गमारा कारै भयो उज्यालो ।  
 छिना पूजी लौलि गमारा डाँगा काँगा उज्यालो ।  
 डाँगा काँगा पूजी लौली खेत पात उज्यालो ।  
 खेत पात पूजी लौली भीणी भ्यार उज्यालो ।  
 भीणी भ्यार पूजी लौली पटाडण उज्यालो ।  
 पटाडण पूजी लौली मोल पात उज्यालो ।  
 मोल पात पूजी लौली खोली देत उज्यालो ।  
 खोली देली पूजी लौली सारा भितेर उज्यालो ।  
 ऐना ऐना लौलि गमारा तै लौति बैठक दीय ।

कौ त्विले गमारा रै बासो ल्हीछ का पड़िगै हो रात ।  
 हिमांचल काँठी रै बासो ल्हीछ बसुधारा पड़िगै रात ।  
 ऐल फोडूँ तेरी हिमांचल काँठी भोल सुकूँ बसुधारा ।  
 निमुवाँ डाली रै बासो ल्हीछ बसुधारा पड़िगै रात ।  
 ऐल काटूँ तेरी निमुवाँ डाली भोल सुकूँ बसुधारा ।  
 दाड़िमी डाली रै बासो ल्हीछ बसुधारा पड़िगै रात ।  
 ऐल काटूँ तेरी दाड़िमी डाली भोल सुकूँ बसुधारा ।  
 काँकड़ा डाली रै बासो ल्हीछ बसुधारा पड़िगै रात ।  
 ऐल काटूँ तेरी काँकड़ा बेली भोल सुकूँ बसुधारा ।

भूमि भूमेसर सर्ग महेसर पताल काली नाग ।  
 मेंसर काँ छाड़ि ऐछै गमार दीदी मेंसर काँ छाड़ि ऐछै ।  
 मेंसर केदार होलो गमार दीदी मेंसर केदार होलो ।  
 भूमि भूमेसर सर्ग महेसर पताल काली नाग ।  
 मेंसर काँ छाड़ि ऐछै गमार दीदी मेंसर काँ छाड़ि ऐछै ।  
 मेंसर तिरजुगी होलो गमार दीदी मेंसर तिरजुगी होलो ।  
 भूमि भूमेसर सर्ग महेसर पताल काली नाग ।  
 मेंसर काँ छाड़ि ऐछै गमार दीदी मेंसर काँ छाड़ि ऐछै ।  
 मेंसर उखिमठ होलो गमार दीदी मेंसर उखिमठ होलो ।  
 भूमि भूमेसर सर्ग महेसर पताल काली नाग ।  
 मेंसर काँ छाड़ि ऐछै गमार दीदी मेंसर काँ छाड़ि ऐछै ।  
 मेंसर काँ छाड़ि ऐछै गमार दीदी मेंसर तिरजुगी होलो ।  
 मेंसर उखिमठ होलो गमार दीदी मेंसर उखिमठ होलो ।  
 मेंसर काँ छाड़ि ऐछै गमार दीदी मेंसर काँ छाड़ि ऐछै ।  
 मेंसर बसुधारा होलो गमार दीदी मेंसर बसुधारा होलो ।  
 भूमि भूमेसर सर्ग महेसर पताल काली नाग ।  
 मेंसर काँ छाड़ि ऐछै गमार दीदी मेंसर काँ छाड़ि ऐछै ।  
 मेंसर कैलाश होलो होलो गमार दीदी मेंसर कैलाश होलो ।

धार में की सल्ला डाली म्यार मैत जान्या बाटो काँ हो ?  
 आपनु रूराट आपनु फूफाट में की जाणू त्यर मैत को बाटो ?  
 अल्की झाये सल्ला की डाली एकै जन्म पलुये ।  
 हरिया बरन फूले डाली सुक्का रंगन पाके ।  
 त्यारा फल सल्लाकि डाली सुक्का धर्ति झड़ला ।  
 बाटै में की इनरैणि बेली म्यार मैत जान्या बाटो काँ हो ?  
 बारि को रून पारि को झानू में क्या जाणूँ त्यर मैत का बाटो ?  
 स्यात रंगन फुलिये डाली राता रंगन पाके ।  
 धेकनि होये इनरैणि दाणी भकनी जन होयै ।  
 बाटै में का बाकरि ग्वाला म्यार मैत जान्या बाटो काँ हो ?  
 काँकी तू औनेर काँकि तू जानेर में क्या जाणूँ त्यर मैत को बाटो ?  
 दिन भरी ग्वाला बाकार हेरे व्याखुल जस् जन पाये ।  
 बाटै में की निमुवाँ डाली म्यार मैत जान्या बाटो काँ हो ?  
 दैनु बाटो जालो देव केदार बौ बाटो त्यार मैत जालो ।  
 धौला रंगन फूलिये डाली पीला रंगन पाके ।  
 त्यारा फल निमुवाँ डाली मनसुदया रे खाला ।  
 बाटै में की नारडी डाली म्यार मैत जान्या बाटो काँ हो ?  
 दैनु बाटो तिरजुगी जालौ बौ बाटो त्यार मैत जालो ।  
 धौला रंगन फूलिये डाली पीला रंगन पाके ।  
 त्यारा फल नारडी डाली द्यो देवतों चड़ला ।  
 बाटै में की किरमोड़ी डाली म्यार मैत जान्या बाटो काँ हो ?  
 बौ बाटो जालो देव कैलाश दैनु बाटो त्यार मैत जालौ ।  
 पीला रंगन फूलिये डाली नीला रंगन पाके ।  
 त्यारा फल किरमोड़ी डाली ग्वाला लोग्या रे खाला ।  
 बाटै में की पिडरू डाली म्यार मैत जान्या बाटा काँ हो ?  
 बौ बाटो जालो बदरिनाथ दैनु बाटो त्यार मैत जालो ।  
 धौला रंगन फूलिये डाली राता रंगन पाके ।  
 त्यारा फल घिडरू डाली चाड़ा पंछि रे खाला ।  
 बाटै में की हिसालु डाली म्यार मैत जान्या बाटो काँ हो ?  
 दैनु बाटो डोटिगड़ जालो बौ बाटो त्यार मैत जालो ।  
 गुप्फा रंगन फूलिये डाली त्वाप्पा रंगन पाके ।  
 त्यारा फल हिसालु डाली चेली बेटि रे खाला ।  
 धार में की काफल डाली म्यारा मैत जान्या बाटो काँ हो ?  
 दैनु बाटो तिरसुली जालो बौ बाटो त्यार मैत जालो ।  
 पीला बरन फूलिये डाली काला रंगन पाके ।  
 त्यारा फल काफल, डाली मनसुदया रे खाला ।  
 गौलि गुधेरी द्यारि को रूख म्यार मैत जान्या बाटो काँ हो ?  
 यो होलो तेरो मैतुड़ा देश तू मेरी लाड़िलि चेली ।  
 औना औना गमार दीदी मैतुड़ा पुजि गँन ।  
 औना औना मेंसर गुरों लेकै मैतुड़ा पुजि ग्यान ।

ये भुका भदौ रडझडिल्लो इजू तैं मैत ऐछै रडझडिल्लो  
 इजू तैं मैत ऐछै रडझडिल्लो।  
 जेठ ऊनी त रडझडिल्लो इजू उमिया खानी रडझडिल्लो।  
 इजू तैं मैत ऐछै रडझडिल्लो।  
 कार्तिक ऊनी रडझडिल्लो इजू सिरौली खानी रडझडिल्लो।  
 इजू सिरौली खानी रडझडिल्लो।  
 ये झुका भदौ रडझडिल्लो इजू तैं मैत ऐछै रडझडिल्लो।  
 इजू तैं मैत ऐछै रडझडिल्लो।  
 ऊपरी भदौ की रडझडिल्लो इजू में मैत ऊँलो रडझडिल्लो।  
 इजू में मैत ऊँलो रडझडिल्लो।  
 पारिछ क्रेराल् कोट रडझडिल्लो इजू वारि मेरो मैत रडझडिल्लो।  
 इजू वारि मेरो मैत रडझडिल्लो।  
 पारि क्वेराल् कोट रडझडिल्लो इजू न्यौली झूराली रडझडिल्लो।  
 इजू न्यौली झूराली रडझडिल्लो।  
 कित् मैत ऊँलो रडझडिल्लो इजू कित् न्यौली मारि दे रडझडिल्लो  
 इजू कित् न्यौली मारि दे रडझडिल्लो  
 टट्ट सुतीया रडझडिल्लो इजू प्यौल् सेती दिये रडझडिल्लो।  
 इजू प्यौल् सेती दिये रडझडिल्लो।  
 राख्ना त राखलो रडझडिल्लो इजू मट्को हवे जालो रडझडिल्लो।  
 इजू मट्को हवे जालो रडझडिल्लो।  
 आड अडीया रडझडिल्लो इजू ध्वे सुकै दिये रडझडिल्लो।  
 इजू ध्वे सुकै दिये रडझडिल्लो।  
 धूना त धूँलो रडझडिल्लो इजू मट्को हवे जालो रडझडिल्लो।  
 इजू मट्को हवे जालो रडझडिल्लो।

नाचि बा खेलि बाँ लौलि गमारा धैं तेरो कसो नाच।  
 नैं मेंधैं आडिडि नैं मेंधैं घागरि क्या हुँछ मेरो नाच।  
 नाचि बाँ खेलि बाँ लौलि गमार देबि धैं तेरो कसो नाच।  
 बिना नथिया बिना सुतिया नाचै ले कैन हनु।  
 भोल न्है जूँला देब कैलाश धैं तेरो कसो नाच।  
 नाचि बाँ खेलिबाँ लौलि गमारा धैं तेरा कसौ नाच।

जसा जसा मैँसर गुसैं गहन गडाला।  
 तसी तसी गमार दीदी कुनौलि नचाली।  
 महेसर घुणा लच्छाला में नाच नैं औनुँ।  
 नाचना नाचना गम्मा मैँसर बाटा लागी गया।  
 बसी रया आमा बुबू हमी न्हसी जानू।  
 बसी रया ज्याबा जेजा हमी न्हसी जानू।  
 बसी रया इजा बाबा हमी न्हसी जानू।  
 खोली का खोलिया आब खोली रे उघाड़।

तेरी सेवा पुरी भैं केदार।  
 बसी रया आमा बुबू केदार।  
 तेरी सेवा पुरी भैं केदार।  
 आब हमी घर जानूँ केदार।

त्रिशूल पर्वत के शिखर के ठंडे पानी में स्वामी महेश्वर उत्पन्न हुए।  
 गंगा के किनारे विल्व वृक्ष की छाया में लली गौरा उत्पन्न हुई।  
 नदी के किनारे लली गौरा गायें चराती है।  
 बारह वर्ष की लली गौरा गायें चराती हैं।  
 फूल पहने रहती है गौरी देवी, दूर्वादल तोड़कर खाती है।  
 बालू चाटती है तापसी बाला, गायें चराती है।  
 पृथ्वी पर हथेलियाँ रखकर बाला सूर्य को प्रणाम करती है।  
 (नदी के) इस ओर स्वामी महेश्वर जुल्फें सँवारता है।  
 (नदी के) इस ओर स्वामी महेश्वर बकरियाँ चराता है।  
 जाते-जाते महेश्वर स्वामी नदी के किनारे पहुँचे।  
 'उस पार की बाला कन्ये। (तुम किसकी) बेटी हो या बहू?'  
 '(तुम) किसकी कन्या बेटी हो किसकी गायें चराती हो?'  
 '(न)मैं किसी की बेटी हूँ, न किसी की बहू, मैं कुँआरी कन्या हूँ।'  
 'तुम साध्वी बाला कन्या, हमारे आओगी?'  
 'पिताजी के देने पर क्यों नहीं आऊँगी?'  
 'बताओ बाले कन्या, अपने पिता का नाम।'  
 'हिमालय पिता हैं मेरे (और) माता मैनावती।'  
 'कौन मार्ग जाएगा केदारनाथ को और कौन तुम्हारे पिता के घर?'  
 'तुम्हारे पिता के घर के आगे काहे का निशान होगा?'  
 'भूमि का मार्ग पिता के घर जाएगा, दाहिना मार्ग केदारनाथ को।  
 मेरे पिता के घर के आगे श्रीखंड (चंदन) का पेड़ है।  
 मेरे पिता के घर के आगे चतुष्पथ-चौराहा है।  
 मेरे पिता के घर के आगे फल-फूलों का बगीचा है।  
 चाँदी की सीढ़ियाँ होंगी, सोने के द्वार।  
 सोने का होगी, सोने का प्रांगण।  
 मेघमंडल पिता हैं हमारे, धरती माता।  
 चाचा हैं काले पहाड़, चाची श्वेत पहाड़।  
 लाल पहाड़ दादा हैं मेरे, दादी धूसर पहाड़।  
 '(तुम) द्वार पर खड़े होना और अलख जगाना।'  
 हाथ में पकड़ा जोगी ने तिमूर का डंडा।  
 कोख में दबाई जोगी ने बाघंबर छाला।  
 सिर में रमाया जोगी ने भभूत का गोला।  
 कंधे में धरी जोगी ने झोली और चिमटा।

जाते-जाते महेश्वर स्वामी (गौरा के) पिता के घर पहुँचे।  
 पिता के घर आँगन में (महेश्वर) स्वामी ने अलख जगाई।

‘दीजिए, दीजिए! मैना माता जी, हमको भिक्षा दीजिए।’  
 ‘लौ पकड़ो, पकड़ो जोगी, भिक्षा लाई हूँ, पकड़ो।’  
 ‘काहे की भिक्षा लाई हो माई, काहे की भिक्षा पकड़ूँ?’  
 ‘एक डलिया सोना लाई हूँ, एक डलिया चाँदी।’  
 तुम्हारे जैसा सोना-चाँदी मेरे घर पर है ही।  
 अब लाई मैनारानी कटोरे भर शाल (धान) के चावल।  
 ‘तुम्हारे जैसे शाल के चावल मेरे घर पर हैं ही।’  
 ‘काहे की भिक्षा माँगते हो जोगी, काहे की भिक्षा दूँ?’  
 ‘माँगी जाने वाली भिक्षा आपके घर पर है, दीजिए माई भिक्षा।’  
 आपके घर कुँआरी कन्या है, हमको दीजिए (उसकी) भिक्षा।  
 ‘घूसर-फूसर जोगी। बड़े आए तुम भिक्षा माँगने वाले?  
 पाँवों के तलुवे देखती हूँ जोगी तुम्हारे, बिवाइयाँ पड़े हुए।  
 नाखून देखती हूँ जोगी तुम्हारे, रूखानी के जैसे।  
 कंबल की करधनी, बोरे की धोती।  
 करधनी में तुझ दुर्बल जोगी के लीखही लीख पड़ी हैं।  
 सिर में देखती हूँ तुझ दुर्बल के छार ही छार का भार है।  
 ‘तुझ जोगी के (कन्या) देने से तो सूर्य को दूँगी।’  
 ‘सूर्य के दोगी माई तो जला कर भस्म कर देगा।’  
 तुझ जोगी के देने से तो चंद्रमा के दूँगी।’  
 ‘चंद्रमा के दोगी माई तो रात भर चलना होगा।’  
 ‘तुझ जोगी के देने से तो आरे से चीर डालूँगी।’  
 ‘आरे से चीरोगी माई, पाप लग जाएगा।’  
 तुझ जोगी के देने से तो नदी में बहा दूँगी।  
 ‘नदी में बहाओगी माई तो पाप की भागी बनोगी।’  
 ‘तुझ जोगी के देने से तो (मैं अपनी कन्या) ईश्वर को दे दूँगी।’  
 ‘ईश्वर का ही पुत्र हूँ मैं.....महेश्वर।’  
 ‘ईश्वर के पुत्र हो तो यह जोगी रूप छोड़ो।’  
 ‘द्वार पर खड़े जोगी ने जोगी रूप छोड़ा।’  
 जोगी रूप छोड़ा महेश्वर ने, झकमक आलोक हुआ।  
 (तब) पाँवों चलकर क्यों दूँगी, सिरके बल चल कर दूँगी।’  
 ‘तुम्हारे मन भाई कुँआरी कन्या....ग्वाली मैं ही हूँ।’  
 गौरा-महेश्वर का विवाह होते कोई नहीं जान सका।  
 भादौ माह मंगलवार लली (गौरा) की बारात आई।  
 न भूमि पर अन्न था, न वृक्षों पर पत्ते थे, लली की बारात के दिन।  
 (गौरा की बारात में)शेर पर सवार होकर छुरमल देवता आए।  
 साँप की सवारी करके खंडैनाथ देवता आए।  
 काली घोड़ी में बैठकर काले सैम देवता आए।  
 सफेद घोड़ी में बैठकर मलैनाथ देवता आए।  
 डांडी-डोली में चढ़कर जयंती मैया आई।  
 गौरा-महेश्वर का विवाह होते मंगलगान करने वाली मधुमक्खी ने जाना।

कहाँ पहुँची लली गौरी, कहाँ हुआ उजाला  
 चढ़ाई और उतराई के मध्य बिंदु पर पहुँची लली गौरा  
 पर्वतो-कांतारों में उजाला हो गया।  
 खेत-पात पहुँची लली, दीवार के बाहर उजाला हो गया।  
 दीवार के बाहर पहुँची लली, प्रांगण में उजाला हो गया।  
 प्रांगण में पहुँची लली, आँगन में उजाला हो गया।  
 आँगन में पहुँची लली, खोली द्वार में उजाला हो गया।  
 खोली द्वार पहुँची लली, घर के भीतर उजाला हो गया।  
 आई-आई लली गौरा, इस लली को बैठने को दो।

●  
 ‘कहाँ तुमने गौरा रात्रिवास लिया, कहाँ तुम्हें रात हो गई?’  
 ‘हिमाचल के काँटे में रात्रिवास किया, वसुधारा में रात हो गई।’  
 ‘तुम्हारे हिमाचल के काँटे को अभी फोड़ती हूँ, कल ही  
 सुखाती हूँ वसुधारा।’  
 ‘नीबू की डाली पर रात्रिवास किया, वसुधारा में रात हो गई।’  
 ‘अभी काटती हूँ तुम्हारी नीबू की नाली, कल ही सुखाती हूँ  
 वसुधारा।’  
 ‘दाड़िम की डाली पर रात्रिवास किया, वसुधारा में रात हो गई।’  
 ‘अभी काटती हूँ तुम्हारी दाड़िम की डाली कल ही सुखाती हूँ  
 वसुधारा।’  
 ‘ककड़ी की बेल पर रात्रिवास किया, वसुधारा में रात हो गई।’  
 ‘अभी काटती हूँ तुम्हारी ककड़ी की बेल, कल ही सुखाती  
 हूँ वसुधारा।’

●  
 भूमि के भूमेश्वर देवता, आकाश के महेश्वर और पाताल के  
 कालीनाग।  
 ‘महेश्वर को कहाँ छोड़ आई गौरा दीदी, महेश्वर को कहाँ छोड़ आई’  
 ‘महेश्वर केदारनाथ में होंगे, गौरा दीदी, महेश्वर केदारनाथ में होंगे।’  
 ‘भूमि के भूमेश्वर देवता, आकाश के महेश्वर और पाताल के काली  
 नाग।’  
 ‘महेश्वर को कहाँ छोड़ आई गौरा दीदी, महेश्वर को कहाँ छोड़ आई?’  
 ‘महेश्वर त्रियुगी नारायण में होंगे, गौरा दीदी, महेश्वर त्रियुगी  
 नारायण में होंगे।’  
 ‘भूमि के भूमेश्वर देवता, आकाश के महेश्वर पाताल के  
 कालीनाग।’  
 ‘महेश्वर को कहाँ छोड़ आई गौरा दीदी, महेश्वर को कहाँ छोड़ आई?’  
 ‘महेश्वर उखीमठ में होंगे, गौरा दीदी, महेश्वर उखीमठ में होंगे।’  
 ‘भूमि के भूमेश्वर देवता, आकाश के महेश्वर और पाताल के  
 कालीनाग।’  
 ‘महेश्वर को कहाँ छोड़ आई गौरा दीदी, महेश्वर को कहाँ छोड़ आई?’

‘महेश्वर को कहाँ छोड़ आई गौरा दीदी, महेश्वर त्रियुगी नारायण में होंगे।’

‘महेश्वर उखीमठ में होंगे, गौरा दीदी, महेश्वर उखीमठ में होंगे।’

‘महेश्वर को कहाँ छोड़ आई गौरा दीदी, महेश्वर को कहाँ छोड़ आई?’

‘महेश्वर वसुधारा में होंगे, गौरा दीदी, महेश्वर वसुधारा में होंगे।’

‘भूमि के भूमेश्वर देवता, आकाश के महेश्वर और पाताल के कालीनाग।’

‘महेश्वर को कहाँ छोड़ आई गौरा दीदी, महेश्वर को कहाँ छोड़ आई?’

‘महेश्वर कैलास में होंगे, गौरा दीदी, महेश्वर कैलास में होंगे।’

‘चोटी में की ओ चीड़ की डाली। मेरे मायके जाने वाला मार्ग कौन सा है?’

‘अपनी सांय-सांय, अपनी भांय-भांय में, मैं क्या जानूँ तेरे मायके का मार्ग?’

‘बहुत ऊँची होना चीड़ की डाली, एक ही जन्म पलुहाना।

हरे रंगों फूलना डाली, सूखे रंगों पकना।

तुम्हारे फल चीड़ की डाली, सूखी धरती पर गिरें।’

‘मार्ग में की इद्रायण की बेल! मेरे मायके जाने वाला मार्ग कौन सा है?’

‘इस ओर रहना, उस पार जाना, मैं क्या जानूँ तेरे मायके का मार्ग?’

‘श्वेत रंगों फूलना डाली, लाल रंगों पकना।

देखने की ही सौंदर्यवान होना इद्रायणी, खाने योग्य न होना।’

‘मार्ग में के बकरियों के ग्वाले! मेरे मायके जाने वाला मार्ग कौन सा है?’

‘कहाँ से तू आने वाली, कहाँ को तू जाने वाली, मैं क्या जानूँ तुम्हारे मायके का मार्ग?’

‘हे ग्वाले! दिन भर तुम बकरियाँ चराना, सायंकाल यश न पाना।’

‘मार्ग में की नीबू की डाली। मेरे मायके जाने वाला मार्ग कौन सा है?’

‘दायाँ मार्ग जाएगा केदारनाथ को, बायाँ मार्ग तुम्हारे मायके जाएगा।’

‘धवल रंगों फूलना डाली, पीले रंगों पकना।

‘तुम्हारे फल नीबू की डाली! मनुष्य खाएँ।’

‘मार्ग में की नारंगी की डाली। मेरे मायके जाने वाला मार्ग कौन सा है?’

‘दायाँ मार्ग त्रियुगी नारायण जाएगा बायाँ मार्ग तुम्हारे मायके जाएगा।’

‘धवल रंगों फूलना डाली, पीले रंगों पकना।

तेरे फल नारंगी! देवी-देवताओं को चढ़ें।’

‘मार्ग में की किरमोड़ी की डाली! मेरे मायके जाने वाला मार्ग कौन सा है?’

‘बायाँ मार्ग जाएगा कैलास को, दायाँ मार्ग तुम्हारे मायके जाएगा।’

‘पीले रंगों फूलना डाली, नीले रंगों पकना।

तुम्हारे फल किरमोड़ी की डाली! ग्वाले लोग खाएँ।’

‘मार्ग में की धिंगारू<sup>2</sup> की डाली? मेरे मायके जाने वाला मार्ग कौन सा है?’

‘बायाँ मार्ग बदरीनाथ को जाएगा, दायाँ मार्ग तुम्हारे मायके को जाएगा।

‘धवल रंगों फूलना डाली? लाल रंगों पकना।

तुम्हारे फल धिंगारू की डाली। चढ़े-पक्षी खाएँ।’

‘मार्ग में की हिसालू<sup>3</sup> डाली! मेरे मायके जाने वाला मार्ग कौन सा है?’

‘दायाँ मार्ग डोटीगढ़ (नेपाल)जाएगा, बायाँ मार्ग तुम्हारे मायके जाएगा।’

‘तुम कलियों के रंगों खिलना, बूँदों के रंगों पकना।

तुम्हारे रसीले फल हिसालू की डाली। बहू-बेटियाँ खाएँ।’

‘चोटी पर स्थित काफल<sup>4</sup> की डाली। मेरे मायके जाने वाला मार्ग कौन सा है?’

‘दायाँ मार्ग त्रिशूली को जाएगा, बायाँ मार्ग तुम्हारे मायके को जाएगा।’

‘पीले रंगों खिलना डाली! काले रंगों पकना।

तुम्हारे फल काफल की डाली, मनुष्य खाएँ।’

‘गहरे गह्वर के ओ देवदार के वृक्ष! मेरे मायके जाने वाला मार्ग कौन सा है?’

‘यही तेरे मायके का देश है, तू ही मेरी लाड़ली बेटा है।’

आते-आते गौरा दीदी मायके पहुँच गई।

आते-आते महेश्वर स्वामी भी (गौरा के पीछे-पीछे मायके पहुँच गए।)

इस भूखे भादों-रंग-रंगीला—तू मायके आई—रंग-रंगीलाला

बेटी तू मायके आई—रंगरंगीला

जेठ में आती तो—रंगरंगीला—बेटी उमिया खाती—रंगरंगीलाला

बेटी तू मायके आई—रंगरंगीला

कार्तिक में आती—रंगरंगीला—बेटी भुने धानों के चावल ल खाती—रंगरंगीला

बेटी भुने धानों के चावल खाती—रंगरंगीला।।

इस भूखे भादों—रंगरंगीला—बेटी तू मायके आई—रंगरंगीलाला

बेटी तू मायके आई—रंगरंगीला

अगले वर्ष भादों के बाद—रंगरंगीला—माँ मैं मायके आऊँगी—रंगरंगीलाला

माँ मैं मायके आऊँगी—रंग रंगीला

उस पार क्वेरालकोट—रंगरंगीला—माँ इस पार मेरा मायका—रंगरंगीला।’

माँ इस पार मेरा मायका रंगरंगीला ।  
 उस पार केरालकोट में.....रंग रंगीला.....  
 माँ न्यौली (पक्षिणी)  
 झूरेगी—रंगरंगीला माँ न्यौली कूकेगी—रंग रंगीला ॥  
 यातो मायके आऊँगी—रंगरंगीला—माँ या न्यौली को मार दो—  
 रंगरंगीलाला

माँ या न्यौली को मार दो—रंगरंगीला ॥  
 गले की सुतिया—रंगरंगीला—माँ पिटारी में संभाल देना—  
 रंगरंगीलाला

माँ पिटारी में संभाल देना—रंगरंगीला  
 'संभालने को तो संभाल दूँगी—रंगरंगीला—बेटी मिट्टी हो'  
 जाएगी—रंगरंगीला''  
 बेटी मिट्टी हो जाएगी—रंगरंगीला  
 'मेरा अंगवस्त्र अंगिया—रंगरंगीला—माँ धो-सुखा देना—  
 रंगरंगीलाला

माँ धो-सुखा देना—रंगरंगीला ।'  
 'धोने को तो धोऊँगी—रंगरंगीला—बेटी मिट्टी हो जाएगी—  
 रंगरंगीला'  
 बेटी मिट्टी हो जाएगी—रंगरंगीला ॥

'नाचो-खेलो लली गौरा, देखें तुम्हारा नाच कैसा है ?'  
 'न मेरे पास अंगिया, न मेरे पास घघिया, क्या होता है मेरा नाच ?'  
 'नाचो-खेलो लली गौरा देवी। देखें तुम्हारा नाच कैसा है ?'  
 'बिना नथ के, बिना सूता के नाच नहीं होता ।'  
 'नाचो-खेलो लली गौरा! देखें तुम्हारा नाच कैसा है ?'

जैसे-जैसे महेश्वर स्वामी गहने गढ़वाएंगे।  
 वैसे-वैसे गौरा दीदी (भिन्न-भिन्न मुद्राओं में) कंठ नचाएगी।  
 महेश्वर घुटनों में लोच देंगे—'मुझे नाच नहीं आता ।'  
 नाचते-नाचते गौरा-महेश्वर (कैलास) मार्ग की ओर चल पड़े।  
 'बैठे रहना, दादा-दादी ? अब हम चलते हैं।  
 भले हुए रहना, बड़े पिता बड़ी माँ! अब हम चलते हैं।  
 भले हुए रहना, माता-पिता! अब हम चलते हैं।  
 मुख्य द्वार—खोली के रक्षक! अब खोली उघाड़ो ।''

तुम्हारी सेवा पूरी हुई, हे केदारदेव!  
 बैठे रहना दादा-दादी, हे केदारदेव!  
 तुम्हारी सेवा पूरी हुई, हे केदारदेव!  
 अब हम घर जाते हैं, हे केदारदेव!

